परमार्थ पारंच ़

(प्रथम-भागं)

मूल्य : 20 रुपये

संस्करण

प्रथम : 1996 प्रतियां : 2100 द्वितीय : 2003 प्रतियां : 2100

: प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर–334005 (राज.)

प्रकाशकीय

आत्मा का सिद्धत्वभाव परम अर्थ है। उसका परिचय करना परमार्थ-परिचय है। परमार्थ सम्यक् दृष्टि आत्मा का एक श्रद्धान है। परम अर्थ का परिचय भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। उसका एक माध्यम पृच्छा भी है। तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन में बताया गया है कि वे निर्ग्रन्थ श्रमण भगवन्तों का सानिध्य प्राप्त करने के उत्सुक रहते थे व जब भी ऐसा सुखद सान्निध्य होता तो वे तत्त्वचर्चा द्वारा परम अर्थ की गवेषणा करते हुए अपना समय सार्थक करते थे।

वर्तमान युग भौतिक युग है। इसमें परमार्थ की बात करना बहुतांश में अरण्य-रोदन का विषय हो सकता है पर एकान्तत नहीं। इस युग में भी जिज्ञासुओं की जिज्ञासा परमार्थ के प्रति उपस्थित होती है। उन जिज्ञासाओं का वे समाधान भी प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं।

परमश्रद्धेय आचार्यश्री नानालालजी म.सा. बीसवीं सदी की एक विरल विभूति थे। अध्यात्म के क्षेत्र में आपकी गहरी पहुंच थी। आप जिज्ञासुओं को अपने प्रवचनों में सहज ही तत्त्वज्ञान से आप्लावित करते थे व प्रतिदिन संध्या के समय प्रत्येक जिज्ञासु के लिए समाधानप्राप्ति हेतु द्वार खुला रखते थे।

श्रद्धेय आचार्यप्रवरश्री के समाधान अनेक बार मौखिक तो होते ही थे पर दूर क्षेत्रवासी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान परम अर्थ का परिचय पत्रों के माध्यम से भी प्राप्त करते थे। पिछले काफी समय से श्रद्धेय आचार्यश्री के पास प्राप्त होने वाली जिज्ञासाओं का समाधान श्रद्धेय वर्तमान आचार्यश्री रामलालजी म. सा. फरमाते रहे हैं। जिन प्रश्नों का उत्तर लिखित में होता है उनका स्वाभाविक रूप से संकलन भी हो जाता है। यह संकलन अन्य भव्य आत्माओं के लिए भी परमार्थ परिचय में पाथेय बने, इस भावना से संघ की साहित्य समिति ने इनका प्रकाशन किया व श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड ने परमार्थ-परिचय भाग प्रथम को शास्त्री परीक्षा में रखने का निर्णय लिया, वही परमार्थ-परिचय, जिससे अब तक बहुत आत्माएं लाभान्वित हो चुकी हैं, द्वितीयावृत्ति के रूप में आपके करकमलों में प्रस्तुत करते हुए हम आनन्द का अनुभव करते हैं प्रथम संस्करण के अर्थ सहयोगी श्री प्यारेलालजी भंडारी अलीबाग थे। आशा करते हैं कि आप स्वयं परमार्थ-परिचय प्राप्त करते हुए अन्यों को परमार्थ-परिचय की दिशा में सहयोगी बना सकेंगे, इसी भावना के साथ।

भवदीय

राजमल चोरड़िया	शान्तिलाल सांड	मदनलाल कटारिया
अध्यक्ष	संयोजक	महामंत्री

साहित्य समिति

प्रश्न : आत्म-साधना का सरल उपाय क्या है ?

उत्तर : साधना के हठयोग आदि कई मार्ग हैं, किन्तु सहज-सरल उपाय की दृष्टि से सहज योग साधना पद्धति सबसे महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर ने साधकों के लिए सहज योग साधना का प्रतिपादन किया है। यदि उसकी आराधना सम्यक् प्रकार से हो जाती है तो आत्मा उसी भव में अपने साध्य शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकती है। सहज योग के रूप में स्थविर कल्प की मर्यादाएं हैं। ५ समिति, ३ गुप्ति हैं। जिनकी साधना आत्मा सहज रूप से कर पाती है। अतः सहज योग साधना, आत्म-साधना के लिए सबसे सरल उपाय है।

प्रश्न : आत्मा के अवगुणों को कैसे दूर किया जाय ?

उत्तर : आत्मा के अवगुणों को समीक्षण पद्धति से दूर किया जा सकता है, जैसे चालनी के द्वारा चाल करके अनाज में से कंकर दूर कर दिये जाते हैं, इसी प्रकार समीक्षण दृष्टि के द्वारा आत्मा प्रतिपल अपनी आत्मा के गुण-अवगुणों का सम्यक् प्रकार से ईक्षण करती रहती है। जिससे गुण व अवगुण उसके सामने आते रहते हैं तो अवगुण उससे दूर चले जाते हैं क्योंकि कहा जाता है कि चोर के पैर कच्चे होते हैं। वे दूसरों के सहारे अपना आसन जमाते हैं। यदि अन्य का सहारा नहीं मिले तो वे मैदान छोड़ देते हैं। उसी प्रकार समीक्षण दृष्टि प्रवाह में अवगुण टिक नहीं सकते। समीक्षण दृष्टि का निरंतर प्रवाह आत्मिक अवगुणों को दूर करने में समर्थ है। इसलिए अवगुणों को दूर करने के लिए आवश्यकता है, निरन्तर समीक्षण धारा के प्रवाह की।

प्रश्न : मन व आत्मा क्या भिन्न हैं ? अगर भिन्न हैं तो इनमें आपस में क्या भिन्नता है और अगर भिन्नता है तो मन पर आत्मा की अधिकता या आत्मा पर मन की ?

उत्तर : आत्मा व मन क्वचित् भिन्न हैं, क्वचित् अभिन्न। मन दो प्रकार का माना गया है। द्रव्यमन और भावमन। भावमन अध्यवसाय रूप होने से वह आत्मरूप है क्योंकि अध्यवसाय आत्मा का ही गुण है। गुण गुणी से अलग नहीं रहता।

द्रव्यमन यद्यपि पौद्गलिक है फिर भी वह कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। जब तक वह आत्मा के साथ होता है तब तक वह अभिन्न है जैसे औदारिक शरीर। किन्तु जब औदारिक शरीर की तरह वह भी आत्मा से छूट जाता है। तब वह आत्मा से भिन्न है।

प्रमादी आत्मा पर मन हावी हो जाता है किन्तु आत्मा जागरूक रहे तो वह मन को अपने अधीन रखती हुई उससे यथेष्ट कार्यसिद्धि कर लेती है। अतः एकान्ततः आत्मा पर मन हावी है या मन पर आत्मा का अधिकार है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न : आत्मा और भावमन में क्या अन्तर है ? यदि दोनों एक हैं तो अरिहंत व सिद्धों में क्यों नहीं होता ?

उत्तर : भावमन आत्मा की शक्तिविशेष है और भावमन और आत्मा अपेक्षा से गुण-गुणी की तरह भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। भावमन रूप शक्तिविशेष अरिहंत की अवस्था के पहले वैभाविक परिणति से परिणत होने के कारण उस शक्तिविशेष का विकृत रूप अनुभव में आता है किन्तु जब घनघाती कर्म आत्मा से विलग हो जाते हैं तब उस शक्तिविशेष का पृथक् अनुभव नहीं होता। यही बात सिद्ध अवस्था में भी समझनी चाहिये।

प्रश्न : मनुष्य जो कार्य करता है वह अपने पूर्वजन्म के कार्यों के आधार पर "प्रारब्ध और पुरुपार्थ" के प्रभाव से करता है। इस तरह तो पूर्व के जन्मों में जिसने पाप किया वह उसके प्रभाववश अगले जन्मों में भी वैसा ही कार्य करता रहेगा। उसको वैसा ही फल प्राप्त होता रहेगा। इस तरह पापी सदैव पापी ही रहेगा और पुण्यजीव सदैव पुण्य ही प्राप्त करता रहेगा। यदि ऐसा है तो अनादि-अनन्त काल पूर्व जब कभी भी प्रथम जन्म हुआ होगा तो उसके द्वारा प्रथम कार्य का नियमन कैसे हुआ होगा और क्यों ? तथा किसके द्वारा ?

उत्तर : आत्मा वर्तमान में जो भी कार्य करती है वह सिर्फ पूर्वजन्म के कर्मोदय के प्रभाव से ही करती हो, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। इस जन्म के पुरुपार्थ एवं क्रिया-कलापों से नये कर्म भी उपार्जित कर लेती है और पहले के अनिकाचित कर्मों को शीघ्र भोग भी सकती है। अतः आत्मा जब नये कर्मों का उपार्जन एवं अनिकाचित कर्मों का परिभोग जल्दी भी कर सकती है तो ऐसी स्थिति में उनकी नियामक भी वह स्वयं ही है अन्य कोई नहीं। अन्य निमित्त बन सकते हैं।

आत्मा की शुरुआत नहीं हुई, वह तो अनादि काल से कर्मों के परिणाम स्वरूप ही विभाव दशा में भटक रही है। इस प्रकार आत्मा अनादि काल से विभाव दशा में भटकती हुई सम्यक् अवबोध के साथ सत्पुरुपार्थ से कर्म विमुक्ति का कार्य पूर्ण करले तो वह सदा-सर्वदा के लिये दुःखों से मुक्त भी हो सकती है।

प्रश्न : साधु-सन्त अगर किसी के शरीर से प्रेतात्मा (भूत, डाकण) आदि निकालते हैं तो यह उचित है या अनुचित ? अगर अनुचित है तो क्या साधु को किसी प्रकार का दोप लगता है ?

उत्तर : वीतराग उपदिष्ट महाव्रतों को स्वीकार कर चलने वाले साधु को प्रेतात्मा आदि को भगाने हेतु आह्वान करने के लिए तंत्र-मंत्र आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से श्रमण जीवन में कई प्रकार के दोषों की संभावना रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार की प्रक्रिया करने वाले साधक को श्रमण नहीं कहा है- यथा :-

जे लक्खणं य सुविणं, अंगविज्जं य जे पउंजंति ।
ण हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ।।

उत्तरा. ८/१३

जो स्त्री-पुरुषों के शुभाशुभ लक्षण बताने वाली 'लक्षण विद्या' का और स्वप्न का शुभाशुभ फल बताने वाली 'स्वप्न विद्या' का और अंग-उपांग के स्फुरण यानी फड़कने का फल बताने वाली 'अंग विद्या' का प्रयोग करते हैं वे निश्चय ही साधु नहीं कहलाते, इस प्रकार आचार्यों ने फरमाया है।

अतः जब साधु अंग विद्या आदि का भी प्रयोग नहीं कर सकते तो भूत-प्रेत आदि को निकालने की प्रक्रिया कर ही कैसे सकते हैं ? उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन १५ की ७/१ गाथा में तथा २०/४५ में भी इस विषय का निर्देश दिया है।

प्रश्न : आत्म-प्रदेशों पर लगे हुए सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाने पर वे प्रदेश दीपक के प्रकाशवत् सारे लोकाकाश में क्यों नहीं फैल जाते ? अन्तिम शरीर के कुछ भाग प्रमाण करके क्यों रहते हैं ?

उत्तर : आत्म-प्रदेशों में कंपन, संकोचन, प्रसारण पर-पदार्थ के निमित्त से बनता है। उन के सर्वथा विलग हो जाने पर संकोचन, प्रसारण आदि कार्य नहीं होते क्योंकि ये कार्य पर-निमित्त सापेक्ष हैं। अतः सम्पूर्ण कर्मों के आवरण नष्ट हो जाने पर आत्म-प्रदेशों की शरीर के अनुपात से जो अवगाहना बनती है, वह स्वाभाविक स्थिरता को प्राप्त होती है तथा आत्म प्रदेश परस्पर सापेक्ष होने से वे सारे लोकाकाश में व्याप्त हो नहीं सकते।

प्रश्न : सम्यक् दर्शन आत्मा के दर्शन गुण की शुद्ध पर्याय है जो आत्म-प्रदेशों में प्रकट होती है। पर आधुनिक काल के आचार्य व मुनिगण सम्यक्त्व दिला कर अपने को गुरु मनवाते हैं, वह सम्यक्त्व कौन-सी है ?

उत्तर : सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के विपरीत श्रद्धान रूप धारणा जो जीवों की बनी हुई है वह आत्मा की अशुद्ध पर्याय है, उस अशुद्ध पर्याय को शुद्ध कैसे करें ? मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व का बन्ध होता है। आत्म की शुद्ध पर्याय भी मिथ्यात्व के रूप में बनी रहती है। यथा किसी ने बीज बोया, वह अंकुरित हुआ। फिर उसके दानों को बोने पर अनेक दाने पैदा होते हैं। वैसे ही मिथ्यात्व रूपी अशुद्ध पर्याय का उदय बीज रूप में होने पर अनेक बीजों के तुल्य मिथ्यात्व की प्रकृतियों का बन्ध हो जाता है। इस प्रकार उदय और बन्ध का सिलसिला चलते रहने से कभी भी सम्यक्त्व की शुद्ध पर्याय का प्रसंग अभव्यवत् बन नहीं सकता। लेकिन शास्त्रकारों ने भव्य-अभव्य की अवस्था का भी विश्लेषण किया है।

भव्यात्माओं को भी निकाचित वन्ध का फलोपभोग करना ही पड़ता है। पर निकाचित वन्ध की अवस्था से भिन्न बन्ध की अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना करण से उनको न्यूनाधिक किया जा सकता है। उस न्यूनाधिकता के मुख्यतया दो निमित्त शास्त्रकारों ने वतलाये हैं-

एक तो स्वभाविक रूप से कर्मों की अवधि समाप्त होने पर या उपशम हो जाने पर सम्यक् दर्शन होता है। वह निसर्ग सम्यक् दर्शन कहलाता है। और दूसरा गुरुजनों के उपदेश से जो सम्यक् दर्शन होता है उसे अधिगम सम्यक् दर्शन कहा जाता है। इसी को उमास्वाति ने तत्त्वार्थ समत्र में कहा है-

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा" अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा दूसरों के उपदेश से उत्पन्न होता है।

दिगम्बर समाज द्वारा प्रकाशित मोक्षशास्त्र में इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि किसी जीव को आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने पर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और किसी को उसी भव दीर्घकाल में या दूसरे भव में उत्पन्न होता है। उपदेशोपरान्त जिसे तत्काल सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यक् दर्शन कहते हैं। और जिसे पूर्व के संस्कारों से सम्यग्दर्शन होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रकार एक दृष्टि से निसर्गज भी पूर्व जन्मान्तर में उपदेशजनित एवं क्षयोपशम निमित्तक ही होता है। इसमें अन्तर तत्क्षण अथवा दीर्घकाल का ही रहता है।

प्रभु महावीर ने सकडाल पुत्र के स्थान पर पहुंच कर सकडाल पुत्र को उपदेशादि के माध्यम से आत्मिक शुद्ध पर्याय को प्रकट कराते हुए मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व बोध बीज दिया तथा चण्डकौशिक सर्प के विल पर पहुंच कर उसे सम्यक्त्व का यथार्थ बोध प्रदान किया।

यही नहीं, भगवान् महावीर स्वामी ने अपने चरम समय में भी देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए गौतम स्वामी को उसके स्थान पर भेजा।

श्री प्रभव स्वामी ने श्री शय्यंभव स्वामी को ब्राह्मण अवस्था में रहते हुए बोधित करने के लिए अपने शिष्यों को भेजा, ऐसा इतिहास में वर्णन मिलता है।

यह प्रतिवोध देने का कार्य आचार्य पर ही निर्भर रहता है। क्योंकि वे ही तीर्थंकरों के वाद शासन के उत्तराधिकारी होते हैं अतः भव्य जीवों के कल्याण और हित साधने की दृष्टि से समय-समय पर उन्हें प्रतिवोधित करने का निस्वार्थ भाव से यथायोग्य उपक्रम शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखते हुए सम्यक्त्व प्रदान करते रहते हैं।

जहाँ संघानुशास्ता आचार्य के पहुंचने की स्थिति न हो वहाँ वे अपने आज्ञाकारी सन्तों को भी भव्यों के प्रतिबोधार्थ भेज सकते हैं। यथा महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को एवं प्रभव स्वामी ने अपने शिष्यों को भेजा।

लेकिन सन्त जो-कुछ भी बोध देते हैं, वह शासनपति की नेश्राय में ही प्रतिबोध देते हैं न कि व्यक्तिगत अवस्था में। क्योंकि शासनपति के नाम से सम्यक् बोध की पर्याय पैदा करने में व्यक्ति की शासन-निष्ठा एवं निःस्वार्थ भावना का द्योतन होता है।

उपदेशादि से जो आत्म-प्रदेशों में सम्यक्त्व प्रकट होता है वह आत्म प्रदेशों तक ही सीमित न रह कर मन एवं वाणी के माध्यम से बाहर भी प्रकट होता है। यह बात सम्यक्त्व सूत्र से स्वतः स्पष्ट है। यथा

"अरिहंतो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो, गुरुणो ।
जिण पण्णत्तं तत्तं इय सम्मतं मए गहियं ।।"

इस सूत्र में सम्यक्त्व ग्रहण करने वाला सम्यक्त्व को स्वीकार करता हुआ कह रहा है कि अरिहंत मेरे देव हैं। २७ गुण के धारक सुसाधु मेरे गुरु हैं। जिनेन्द्रदेव प्ररूपित मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैं जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण करता हूँ।

इस स्वीकृतिसूचक शब्द से यह ध्वनित होता है कि सम्यक्त्व आत्म-प्रदेशों तक ही सीमित न रहा अपितु वाणी के माध्यम से स्वीकृत हुआ तो स्वीकार कराने वाला भी अवश्यंभावी है। वह स्वीकार कराने वाला वीतराग प्रभु के अनुशासन एवं आज्ञा के अनुरूप शासन को संभालने वाले अनुशास्ता एवं उनकी आज्ञा में विचरण करने वाले निर्ग्रन्थ सुसाधु ही भव्य प्राणियों को प्रतिबोधित करने रूप सम्यक्त्व प्रदान करता है, वह शास्त्रानुकूल है।

शासनपति के केन्द्रीयकरण के अतिरिक्त व्यक्तिगत सम्यक्त्व देने की लालसा रखना एवं चेष्टा करना कि "मैं तुम्हारा गुरु हूँ, तू मेरा चेला है" ऐसा कथन व प्रयत्न तीर्थेश प्रभु जिनेन्द्रदेव के अभिप्राय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि वीतराग देवों का उद्देश्य एवं लक्ष्य चतुर्विध संघ के अन्दर रहने वाली काषायिक वृत्ति को क्षीण व शमित करने का है, न कि केन्द्रीयकरण शासन से विपरीत व्यक्तिगत स्वार्थ का संपोषण करते हुए संघ को विघटित करना अर्थात् सांसारिक व्यक्तियों की तरह अलग-अलग परिवार के रूप में संघ की शक्ति को विखण्डित करना। यह वीतराग सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

आधुनिक युग में विधिवत् अनुशासन का पालन नहीं करने वाले एवं व्यक्तिगत स्वार्थ एवं यशलिप्सा के आधीन होकर सम्यक् बोध के नाम पर

अलग-अलग साधुओं द्वारा अलग-अलग शिष्य वनाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, वह योग्य नहीं है।

प्रश्न : पर पाखण्ड प्रशंसा, पर पाखण्ड संस्तव का सम्बन्ध किसी मिथ्यामत या संप्रदाय से हो तो उनका नामोल्लेख किया जावे ?

उत्तर : वीतराग देवों ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ व्रत-प्रत्याख्यान आदि फरमाये हैं उन्हें आत्मशुद्धि हेतु जो स्वीकार करता है वह आश्रव को रोक कर पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करता है। अर्थात् पाप कर्मों को आत्मा से पृथक् करता है।

उक्त विवेचन के अनुसार सम्यक् ज्ञानपूर्वक आचरण से पापों को खण्डित करने वाला पाखण्डी कहलाता है। स्व आत्म स्वरूप को प्राप्त करने वाला होने से वह वस्तुतः स्व पाखण्डी कहलाता है।

किन्तु जिन व्यक्तियों को वीतराग मार्ग नहीं मिला, पर उनकी अन्तरूआत्मा मोक्ष के लिए लालायित रहती है वे सही मार्ग के अभाव में एकान्तवादी या स्वर्ग को ही मोक्ष मानने वाली परम्पराओं से व्रत-प्रत्याख्यान कर चलते हैं उनसे मोक्ष की प्राप्ति न होकर पुण्य वंध होता है जिससे स्वर्गादि की प्राप्ति उनको होती है।

परन्तु वे व्यक्ति मिथ्या मत वाले होते हुए भी यही समझते हैं कि हमने पापों को खण्डित करने वाले प्रत्याख्यान ले रखे हैं। एतदर्थ वे भी पाखण्डी कहलाते हैं किन्तु वह अवस्था वीतराग दशा रूप स्व-स्वरूप को प्राप्त कराने की अपेक्षा वैभाविक सुख का कारण होने से पर-पाखण्डी कहलाती है।

सम्यक् श्रद्धावान साधक ऐसे पर-पाखण्डी की प्रशंसा, परिचय, गुणगान करता है तो इससे लगता है वह उसका अनुयायी वन रहा है, वीतराग मार्ग से भटक कर भौतिक सुखों में उलझ रहा है। वह उस आत्मा के लिए ही अहितकर है। अतः सम्यक् मति वाले साधक को मिथ्या मति वाले साधक से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि "विवज्जणा वालजणस्स दूरा", 'वावण्ण कुदंसणा वज्जणा'।

जो भी सम्प्रदाय एकान्त रूप से स्वमन कल्पित मिथ्यामत का पोषण करने लिए हठाग्रह के साथ प्रचलित है उसको पर-पाखण्ड की श्रेणी में समझा जा सकता है। चाहे वह कोई भी सम्प्रदाय क्यों न हो।

प्रश्न : कई पूछते हैं कि जिसने समकित दूसरे सम्प्रदाय की ले रखी है वह सवको वंदन करे तो क्या समकित में दोष लगता है ? इसका सचोट उत्तर क्या देना चाहिए ?

उत्तर : सम्यक्त्व का तात्पर्य है कि आज से मैं सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा करता हूं। इस दृष्टिकोण-अपेक्षा से जो प्रभु महावीर के बतलाये सिद्धान्तानुसार संयमी जीवनयापन करता है वह गुरु पद के अन्तर्गत आता है। उसे गुरुबुद्धि से वन्दन करना सावद्य नहीं है। किन्तु जो वीतराग वाणी के विपरीत चलते हैं उन्हें वीतराग वाणी के अनुसार चलने की प्रेरणा देनी चाहिये। यदि प्रेरणा देने पर भी वह तदनुरूप न चले तो उसके प्रति अहिंसक असहयोग यानी उसे वन्दन-सत्कार, सन्मान नहीं देना चाहिये। सम्यक्त्वी के जो आगार बतलाये हैं उन आगारों के अन्तर्गत कदाचित् सम्यक्त्वी को कुगुरुओं को वन्दन करना पड़ता है तो सम्यक्त्व में दोष नहीं लगता। किन्तु बतलाये गये आगारों का कोई प्रसंग न होने पर भी वह कुगुरुओं को गुरुबुद्धि से वन्दना-नमस्कार करता है, सत्कार-सन्मान देता है तो सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व में दोष लगने का प्रसंग आता है।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि को त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होता तो क्या वह सप्त कुव्यसन आदि लोकविरुद्ध पापकार्यों का भी सेवन करता है ? यदि करता है तो उसकी भूमिका के विरुद्ध तो नहीं है ?

उत्तर : सप्त कुव्यसन का सेवन नहीं करना सम्यक्त्व की भूमिका के अन्तर्गत है। अतः सम्यक्त्वी को सप्त कुव्यसन का सेवन नहीं करना चाहिये। जिस व्यक्ति में सप्त कुव्यसन का सेवन है उसमें सम्यक्त्व की न्यूनता समझनी चाहिये। एकान्ततः सम्यक्त्व का अभाव नहीं। क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध दशा ६, सूत्र १७ में सम्यग्दृष्टि के लिए महारम्भी, महापरिग्रही विशेषण भी आया है।

प्रश्न : अविरति सम्यक् दृष्टि आत्मा की अन्तरंग परिणति तथा ब्राह्य प्रवृत्ति कैसी होती है ?

उत्तर : सम्यक् दृष्टि की आन्तरिक भावनावृत्ति वीतराग देव के सिद्धान्तानुसार सुदेव, सुगुरु, सुधर्म पर दृढ़ आस्था के रूप में होती है। वह अरिहंत एवं सिद्ध भगवन्तों की वीतराग दशा का अनुभव स्व-स्वरूप में करने की चेष्टा करता है। इसी लक्ष्य से निर्ग्रन्थ अवस्था के रूप में सुगुरु की आस्था रखता है। सुधर्म के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये सम्यक् ज्ञान का अवलम्बन लेता है। जीवादिक तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझने की यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है। भेद विज्ञान की अभिवृद्धि के साथ जैसे-जैसे हेय, और उपादेय की अवस्था को जानने में प्रवीण होता जाता है, वैसे-वैसे स्व स्वरूप रमण की विधि का भी विज्ञान करने लगता है तथा आन्तरिक सूक्ष्म परिणतियों का उस विज्ञान से वर्गीकरण करता रहता है इत्यादि आन्तरिक परिणति के फलस्वरूप मन में समताभाव के अंकुर अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं वैसे-वैसे ममत्व रूप आसक्ति की ग्रन्थियों का जोर घटने लगता है, वह शिथिल होने लगती हैं। मोह संबंधी वासना का आवेग घटता है, उसमें शिथिलता आती है और अन्तरंग में उदासीनता बढ़ने

लगती है। कषाय की मंदता होने लगती है। अन्य आत्माओं को स्वात्म के तुल्य समझता हुआ "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" की भावना के आचरण को व्यवहार में उतारने का प्रयास करने लगता है। पांच इन्द्रियों के मोहक विषयों में उस का मन मोहित नहीं होता है। स्त्रियादि पारिवारिक जनों से मोह की दशा सिकुड़ती जाती है। समग्र विश्व के समस्त प्राणियों को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में देखने लगता है। भूतकाल में समस्त प्राणियों के प्रति रहे माता-पितादि सम्बन्धों का विशेष अनुभव करने लगता है। सोचता है कि उन सब के उपकार से उऋण कब होऊंगा, उनको किस रोज अभयदान दे पाऊंगा, सभी के प्रति कल्याणमय भावना प्रेषित करने वाला कब बनूंगा, अभी तो वर्तमान के माता-पितादि पारिवारिक जनों के लिये ही इस जीवन को लेकर चलता हूँ, गृहस्थाश्रम में रहता हूँ, तो अनंतानंत भूतकालीन माता-पितादि को विनष्ट करने से बच नहीं सकता। मानव जीवन ही एक ऐसा जीवन है जिसमें समग्र जीवों के उपकार से उऋण हो सकता हूँ। इसके लिये समग्र आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर "खंतो दंतो निरारंभो" बनकर निर्ग्रन्थ पद की साधना में जिस दिन तन्मय बनूंगा वह दिन मेरा धन्य होगा। इत्यादिक मानसिक विचार तरंगें अत्यधिक तरंगित होती हैं तब वे वाणी के रूप में भी प्रवाहित होने लगती हैं। फलस्वरूप वचन-व्यवहार भी समग्र प्राणियों के लिये हितकारी, मितकारी तथा मधुरता लिए, राग-द्वेष से रहित, समता के रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। उन्हीं मानसिक, वाचिक वृत्तियों में तीव्रता आने से कायिक परिणति भी तद् अनुसार पर के साथ होने लगती है। पर-पदार्थों को वैभाविक भाव की परिणति मानकर उनसे यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करने लगता है। उससे स्वरूप रमण की पुष्टि स्वयं की ही कायिक प्रवृत्ति से स्पष्ट होने लगती है। ऐसे अनेक प्रसंगों से सम्यक् दृष्टि आत्मा की आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रवृत्ति का विज्ञान किया जा सकता है।

प्रश्न : सर्वार्थ सिद्ध में कौनसी समकित पाई जाती है ? अगर एकांत क्षायिक समकित ही पाई जाती हो तो इसका वर्णन कौन-से शास्त्र में है ?

उत्तर : सर्वार्थसिद्ध में क्षायिक एवं क्षयोपशमिक दोनों समकित पाई जाती हैं। १९८ देवों के भेदों में से १५ परमाधर्मी एवं ३ किल्विषी १५+३=१८ के पर्याप्ता-अपर्याप्ता १८x२=३६ को छोड़कर शेष १६२ भेद क्षायिक एवं क्षयोपशम समकित में पाये जाते हैं। इससे सर्वार्थसिद्ध में दोनों समकितों का होना सिद्ध होता है।

प्रश्न : क्या सप्त कुव्यसन में किसी व्यसन से ग्रस्त रहते हुए भी सामायिक संवर जैसी साधना करने की योग्यता हो सकती है ?

उत्तर : यद्यपि सप्त कुव्यसन त्याज्य हैं। इनको जीवन में स्थान नहीं देना चाहिये। लेकिन जो इन व्यसनों से ग्रस्त है, उसकी भावना बदल रही है, वह

सामायिक-संवर की क्रियाएं करके अपने जीवन को पवित्र वनाना चाहता है, तो ऐसी स्थिति में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये साधना नहीं हो सकती। क्योंकि सामायिक-संवर करके एक दिन वह दुर्व्यसनों को तिलांजलि दे सकता है। और यदि यह कह दे कि उसके तो सामायिक हो ही नहीं सकती तो उसके सुधरने का, परिमार्जित होने का अवसर कव प्राप्त होगा ? यह ठीक है कि वह सभी दुर्व्यसनों को छोड़कर पवित्र साधना में तन्मय वने पर वैसी स्थिति नहीं बन पा रही हो लेकिन उसको अपने दुर्व्यसनों के प्रति घृणा है, वह उन्हें छोड़ने के भाव रखता है, ऐसी स्थिति में उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों को अनुचित नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न : यदि शुद्ध सामायिक नहीं बन सके तो जैसी बने वैसी करें, तो क्या कभी शुद्ध सामायिक हो सकती है ?

उत्तर : प्रत्येक साधक का लक्ष्य शुद्ध सामायिक करने का होना चाहिये। शुद्ध सामायिक के शुद्ध समत्व भावों को प्रकट करने के लिए निरन्तर अभ्यास एवं दृढ़ विश्वास की आवश्यकता रहती है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे अभी शुद्ध सामायिक नहीं बन रही है तो मुझे सामायिक ही नहीं करना चाहिये- उस का यह सोचना ठीक नहीं। जैसे स्कूल में विद्यार्थी जब पहली बार पहुंचता है, तब प्रथम बार में ही वह सब-कुछ नहीं सीख जाता। धीरे-धीरे वह दृढ़ संकल्प बल के साथ अभ्यासरत रहता हुआ आगे बढ़ता है तो एक-न-एक दिन वह ग्रेज्युएट बन जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन की साधना के बारे में सोचना चाहिये। सामायिक आध्यात्मिक जीवन की महत्त्वपूर्ण साधना है। इस के शुद्धतम स्वरूप को प्राप्त करना है तो उसमें प्रवेश किया जाय, उसके वाद अभ्यास किया जाय। प्रवेश और अभ्यास के अभाव में वह परिपूर्ण सामायिक के स्वरूप को उजागर नहीं कर सकता। यदि कोई विद्यार्थी सोचले कि मुझे एम.ए. की पुस्तक पढ़नी आ जाय, फिर मैं स्कूल में प्रविष्ट होऊं, नहीं तो नहीं। यह सोचना जैसे हास्यास्पद है वैसे ही कोई व्यक्ति सोचे कि मेरे में सामायिक आ जाय, फिर मैं सामायिक की क्रिया करूं, नहीं तो नहीं-हास्यास्पद है। साधक को शुद्ध सामायिक का अविचल लक्ष्य बनाकर अपूर्व उत्साह और तत्परता के साथ आगे बढ़ना चाहिये। जिससे एक-न-एक दिन अवश्यमेव शुद्ध सामायिक स्वरूप उसके भीतर प्रकट हो सकता है।

सामायिक करते कोई दोष लग जाय तो उसका पश्चात्ताप करना चाहिए और प्रायश्चित्त ले सामायिक की क्रिया निरन्तर करते रहना चाहिये।

प्रश्न : यदि साधु किसी गृहस्थ को सामायिक पच्चक्खावे और गृहस्थ सामायिक को अधूरी पाल ले तो पच्चक्खाने वाले को प्रायश्चित्त आता है क्या ?

उत्तर : कोई श्रावक संतों से यदि सामायिक अथवा दूसरे कोई प्रत्याख्यान मांगता है तो संत उन्हें प्रत्याख्यान करवाते हैं। किन्तु कालांतर में कदाचित् कोई प्रत्याख्यान तोड़ दे अथवा अधूरे में पूरा कर ले तो उसका दोष साधु को नहीं आता। जैसे जमाली आदि ने भगवान् महावीर से दीक्षा लेकर भी सम्यक् अनुपालना नहीं की, जिसका दोष भगवान् को नहीं लगा।

प्रश्न : पहेली आदि पूछकर उत्तर न आने पर उसे सामायिक आदि के त्याग कराकर उत्तर का अर्थ बताना जुए (सट्टे) के अन्तर्गत है ?

उत्तर : आध्यात्मिक ज्ञान के विकास से सम्बन्धित पहेली या प्रश्न पूछना व्यक्ति को आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करता है। प्रेरित करने के अनेक उपायों में से एक यह भी उपाय है, पर सामायिक आदि का त्याग कराना, लेने वाले की इच्छा पर है। प्रत्याख्यान को निर्जरा का कारण समझ कर त्याग लेना और कराना अनुपयुक्त नहीं है, पर जबरदस्ती नहीं कराना चाहिए। सट्टा-जुआ आदि भौतिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित है, अतः प्रष्टव्य विषय सट्टे, जुए आदि के अन्तर्गत आवे, ऐसा संभव नहीं है।

प्रश्न : समता और सामायिक में क्या अन्तर है ?

उत्तर : परिपूर्ण समता साध्य है और सामायिक इसका साधन है। द्रव्यक्षेत्र कालभाव की शुद्धिपूर्वक दो करण तीन योग से सावद्य (१८ पापों) व्यापार का त्याग करके समता भाव की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रिया सामायिक कहलाती है और उससे आत्मशुद्धि होती है। चरमशुद्धि समता वीतरागभाव कहलाती है, वही आत्मा का चरम लक्ष्य है।

प्रश्न : सामायिक और समीक्षण में क्या अन्तर है ?

उत्तर : सामायिक समीक्षण दृष्टि एवम् समीक्षण ध्यान की भूमिका है।

प्रश्न : सामायिक प्रतिक्रमणादि को यदि कोई गायन में बनाता है तो क्या आशातना होती है ?

उत्तर : सामायिक प्रतिक्रमण आदि के मूल पाठों के साथ जैसे हिन्दी अनुवाद होता है वैसे यदि कोई गायन (काव्य) रूप में करता है तो उसमें आशातना का प्रसंग नहीं है। किन्तु यदि मूल पाठ के प्रति अवमानना अथवा उन पाठों का उच्चारण किये बिना केवल गायन आदि का ही प्रयोग किया जाता हो तो वह उपयुक्त नहीं है!

प्रश्न : प्रतिक्रमण में कौन-से पाठ से जीव मोक्षगामी बन सकता है, और कौनसा ऐसा पाठ है जिससे जीव नरकगामी बन सकता है ?

उत्तर : प्रतिक्रमण में अनेक पाठ जीव को मोक्षगामी बनाने वाले हैं जिनमें मुख्य रूप से अरिहंतो महदेवो, चउवीस जिन संस्तव आदि को ग्रहण किया जा सकता है।

१५ कर्मादान व १८ पापस्थान संबंधी प्रवृत्तियां जीवन को नरकगामी भी वना देती हैं। किन्तु निवृत्त्यात्मक अवस्था में वे ही जीव को मोक्षगामी वनाने वाली सिद्ध होती हैं।

प्रश्न : देवर्सीय प्रतिक्रमण दिवसान्त के पश्चात् रात्रि के प्रारम्भ होने पर किया जाता है। वैसे ही रायसिय प्रतिक्रमण रात्रि के अन्त एवं दिन के प्रारम्भ होने पर क्यों नहीं किया जाता है ?

उत्तर : देवसीय प्रतिक्रमण की तरह रायसीय प्रतिक्रमण की तर्कयुक्ति संगत है। वर्तमान में प्रचलित परम्परा अर्वाचीन हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता। यद्यपि कई विचारकों ने देवसीय प्रतिक्रमण सूर्यास्त के पूर्व करने के अभिमत व्यक्त किए हैं। उसे प्राचीन परंपरा भी वतलाया है। उत्तराध्ययन सूत्र से भी उक्त परंपरा को प्रमाणित सिद्ध करने की चेष्टा की है। पर वह संगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन की ३८वीं गाथा में चतुर्थ प्रहर के चतुर्थ भाग में प्रतिलेखन करने का उल्लेख किया है। वस्त्र, शैया आदि की प्रतिलेखना के पश्चात् परठने की भूमि के प्रतिलेखन का उल्लेख है। इसके पश्चात् प्रतिक्रमण करने का विधान है। चौथे प्रहर का चौथा भाग लगभग ४५ मिनट का होता है। शीतकाल के समय में तो उससे भी छोटा होता है। यह समय वस्त्र, शैया एवं भूमि आदि के प्रतिलेखन में ही पूरा हो जाना संभव है। वैसी स्थिति में दिन रहते-रहते देवसीय प्रतिक्रमण कैसे संगत बैठ सकता है? सूत्रकृतांग सूत्र २/२/१४ में बतलाया गया है कि जहां सूर्यास्त हा जाय, चारित्रवान् साधु वहीं क्षोभरहित होकर रुक जायं। यदि सूर्यास्त तक साधु चलता है तो फिर प्रतिक्रमण कब करेगा ? अतः देवसीय प्रतिक्रमण सूर्यास्त के पश्चात् ही सम्भव हो सकता है। वैसे ही रात्रि प्रतिक्रमण सूर्योदय के पहिले करना आगमसम्मत है। उत्तराध्ययन के उक्त अध्ययन में ही २१वीं गाथा में प्रथम पोरसी के प्रथम प्रहर में प्रतिलेखन करने के लिए निर्देश दिया है। यदि सूर्योदय के पश्चात् प्रतिक्रमण का विधान होता तो प्रथम प्रहर के प्रथम भाग में प्रतिलेखन का विधान कैसे किया जाता ? इतना ही नहीं, उसी अध्ययन की ४६वीं से ५२वीं गाथा तक में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि रात्रि चतुर्थ प्रहर के चतुर्थ भाग में रात्रि प्रतिक्रमण करें।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में क्षेत्रातिक्रान्त दोष का जो विधान हुआ है उससे भी सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के पश्चात् प्रतिक्रमण करना सिद्ध होता है। अतः देवर्सीय प्रतिक्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में करना आगमसम्मत है।

प्रश्न : प्रतिक्रमण का काल कहां तक कैसे समझना ? बीस बोल तीर्थंकर गोत्र के बताये हैं उनमें ११वें बोल में कालोकाल प्रतिक्रमण करता हुआ जीव कर्मों की कोड़ खपावे आदि। ज्ञान के अतिचार में भी बताया है कि "अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ"। यदि साधुजी के बड़े ध्यान के बाद श्रावक आज्ञा लेते हैं तो प्रतिक्रमण, जो सूर्यास्त के बाद एक मुहूर्त में होना चाहिये, उससे अधिक समय लगने से क्या काल का उल्लंघन नहीं होता ? यदि हो, तो प्रायश्चित्त का कारण बनता है या नहीं ?

उत्तर : सूर्यास्त होते-होते संतों के प्रतिक्रमण चालू होने का प्रसंग रहता है। उनके बड़े ध्यान तक लगभग १० मिनट लग सकते हैं। तदनन्तर श्रावक यदि प्रतिक्रमण की आज्ञा ले तो उनका प्रतिक्रमण समय पर हो सकता है। यदि सवैया वगैरे अधिक न बोले तो, श्रावक के प्रतिक्रमण में साधु प्रतिक्रमण की अपेक्षा समय कम लगता है। ऐसा अनुमान है।

प्रश्न : श्रावक के प्रतिक्रमण में कम समय लगता है- यह बात कैसे सिद्ध होती है ?

उत्तर : प्रतिक्रमण का काल ४८ मिनट के आस-पास का रहता है। कभी धीरे-धीरे बोलने आदि की परिस्थितिवश समय अधिक लगे तो ६० मिनट आस-पास प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये। इससे भी अधिक समय लगे तो उसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना चाहिये।

प्रश्न : नियम है कि प्रतिक्रमण ५० मिनट में होकर प्रत्याख्यान हो जाने चाहिये लेकिन यदि कोई धीरे-धीरे प्रतिक्रमण करता हो तो क्या चौथे आवश्यक को पूर्ण किये बिना ही अर्थात् भाववंदना आदि को छोड़ कर पांचवां आवश्यक तथा छटा आवश्यक पूर्ण करके फिर पांच पदों की वन्दना दे सकता है क्या ?

उत्तर : प्रतिक्रमण कालोकाल ही करना चाहिये तथा जो क्रम है उसी क्रम से करना चाहिये। कोई धीरे-धीरे भी करे, अगर वह समय पर आज्ञा ले ले तो समय पर पूर्ण कर सकता है। कदाचित् कभी विलम्ब हो जाय तो उसकी आलोचना की जा सकती है पर व्युत्क्रम से प्रतिक्रमण करने का विधान नहीं है।

प्रश्न : सामान्य श्रावक एवं प्रतिमाधारी श्रावक का प्रतिक्रमण एक ही समान है या अलग-अलग ?

उत्तर : प्रतिमाधारी एवं अन्य श्रावकों के लिए एक ही श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र है न कि अलग-अलग। व्रतों में लगे अतिचारों की शुद्धि के लिए श्रावक प्रतिक्रमण करता है। श्रमण प्रतिज्ञा नहीं होने से श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण के साथ संयुक्त करना योग्य प्रतीत होता है।

प्रश्न : पक्खी आदि पर्व दिनों में दो प्रतिक्रमण करने का ज्ञातासूत्र के पांचवें अध्ययन में वर्णन आया है। दो प्रतिक्रमण करने से विशुद्धि भी अधिक होने की संभावना है। अतः पक्खी आदि पर्व दिवसों में दो प्रतिक्रमण क्यों नहीं करने चाहिये ?

उत्तर : आगमों में पक्खी आदि पर्व दिवसों पर कहीं भी दो प्रतिक्रमण का विधान नहीं है। ज्ञाता धर्म कथांग के पंचम अध्ययन में पंथकजी द्वारा दो प्रतिक्रमण का जो कथन किया जाता है वह भी संगत नहीं है क्योंकि ज्ञाता धर्म की प्राचीन प्रतियों में दो प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन (बाद की) कुछ प्रतियों में मूल पाठ प्रक्षिप्त लगता है। प्राचीन प्रति का वह मूल पाठ निम्नानुसार है :-

मूलम्-तएंण सेपंथए संलएणं एवं वुत्थे समाणे तत्थे तसिए करयल कट्टु एवं वयासी अहणं भंते पंथये कय काउसग्गे देवसियं पडिक्कंते चाउम्मासियं खामेमाणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसेणं पाए संघट्टेमि तं खमंतुणं देवाणुप्पिया णायं भुज्झो-भुज्झो एवं करण याएत्ति कट्टु-

(संवत् १७६१ की लिखी हुई टब्बा की प्रति ज्ञाता सूत्र अध्ययन ५ से उद्धरित)

उक्त मूल पाठ में देवसीय प्रतिक्रमण करके चातुर्मासिक क्षमापना हेतु पाठ आया है। इसमें अलग-से दूसरा प्रतिक्रमण करने का उल्लेख ही नहीं है। अतः पंथकजी के नाम से दो प्रतिक्रमण सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात - प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के अतिरिक्त २२ तीर्थंकरों के समय में प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य नहीं था। दोष लगने पर प्रतिक्रमण किया जाता था, अतः उनको दो प्रतिक्रमण करने का प्रसंग ही नहीं आता।

इसके अलावा व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि चिन्तन किया जाय तो जिस समय जिसका शासन होता है उसी के नियमोपनियम का पालन करना होता है। तदनुसार वर्तमान में प्रभु महावीर का शासन चल रहा है अतः प्रभु महावीर के शासन में प्रतिक्रमण करने का किसी आगम में उल्लेख आया हो तो वह मान्य किया जा सकता है पर किसी भी आगम में दो प्रतिक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता।

यद्यपि उपर्युक्त ज्ञाता धर्म के मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि पंथकजी ने दो प्रतिक्रमण नहीं किये थे तथापि असत् कल्पना से कदाचित् यह मान भी लें कि पंथकजी ने दो प्रतिक्रमण किये तो इतने मात्र से वह नियम वर्तमान साधकों के लिये लागू नहीं हो सकता क्योंकि २२ तीर्थंकरों के साधकों के नियमोपनियम अलग होते हैं और प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में

विचरण करने वाले साधकों के नियम-मर्यादा भिन्न होते हैं। अतः उपर्युक्त आगम एवं तर्कयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि दो प्रतिक्रमण शास्त्र-सम्मत नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त अजमेर में सं. १९९० के वृहत् साधु सम्मेलन में सर्वानुमति से प्रस्ताव पास हुआ था। उस सम्मेलन में पंडितरत्न स्व. श्री समर्थमलजी म.सा. स्वयं उपस्थित थे। वहां प्रतिक्रमण सम्बन्धी जो निर्णय हुआ, वह इस प्रकार है-

साधु साध्वीओ ए मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, पक्खी, चोमासी अने संवत्सरीनुं एकज प्रतिक्रमण करवुं, वे नहीं। अने कायोत्सर्ग देवसिय रायसी ना चार लोगस्स, पक्खी ना आठ, चौमासिक ना १२, अने संवत्सरी ना २० लोगस्स आ प्रमाणे श्रावकों ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलन भलावण करे छे, आ ठराव सर्वानुमते पास करेल है।

(मुनि सम्मेलन नो संक्षिप्त हेवाल)

तारीख २३-४-३३ वार रविवार

तथा उसी प्रस्ताव को सं. २००९ सादड़ी सम्मेलन में भी पुनः सर्वानुमति से स्वीकार किया गया। उसकी हूबहू नकल इस प्रकार है।

"श्री वर्धमान स्था. जैन श्रमण संघ के साधु-साध्वियों को देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी संवत्सरी का एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिये और कायोत्सर्ग में देवसी रायसी को ४, पक्खी को ८, चौमासी को १२, और संवत्सरी को २० लोगस्स का ध्यान करना चाहिये।"

आगमों में पांच प्रकार का व्यवहार बतलाया गया है उनमें पांचवाँ जीत व्यवहार है। उसका तात्पर्य यह है कि जिसका स्पष्ट उल्लेख आगम आदि में उपलब्ध न हो तो उस समय के प्रमुख आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत आदि मिलकर जो नियमोपनियम निर्धारित करें।

अतः सं. १९९० के एवं २००९ के सम्मेलन में प्रतिक्रमण में अथवा अन्य जो निर्णय हुए उसे जीत व्यवहार के अन्तर्गत मानते हुए वर्तमान साधकों को उसी के अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये।

दो प्रतिक्रमण करने से विशेष विशुद्धि का जो तर्क दिया गया है वह भी यौक्तिक नहीं है। अतिचारों की आलोचना, निंदा, गर्हा आदि शुद्ध मन से एक बार भी कर लेने से शुद्धिकरण होना संभावित है। यदि दो बार करने से अधिक शुद्धि का प्रसंग हो तो प्रश्न होगा तीन या चार बार क्यों नहीं किया जाय ? किन्तु तीन या चार बार प्रतिक्रमण करना दो प्रतिक्रमण से विशुद्धि मानने वाले

पक्ष को भी स्वीकार नहीं होगा। तथा प्रतिक्रमण का समय एक मुहूर्त का वताया गया है।

एक मुहूर्त से अधिक समय लगने से अतिचार लगने की संभावना रहती है जो कि दो प्रतिक्रमण करने से स्वाभाविक है।

अतः उपर्युक्त आगमसंमत तर्कयुक्त विवेचन से भली भांति सूर्यालोकवत् स्पष्ट हो जाता है कि पक्खी आदि पर्व दिनों में दो प्रतिक्रमण करना शास्त्रसम्मत नहीं है।

प्रश्न : भावी भावना की पुष्टि करने के लिए श्रावक को [illegible] श्रमण सूत्र का उच्चारण करना चाहिये या नहीं ?

[illegible] भावना का परिपुष्ट करने के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रावक प्रतिक्रमण के वाद श्रमणचर्या की जानकारी आदि के लिए श्रमण सूत्र कर सकता है। जैसे जिसने एक भी व्रत ग्रहण नहीं किया है वह श्रावक श्रावक प्रतिक्रमण, श्रावक जीवन की जानकारी के साथ-साथ भावी भावना एवं स्वाध्याय के रूप में रहता है।

प्रश्न : पर्युषण पर्व में आठ दिन नवकार मन्त्र के अखंड जाप विठाये जाते हैं, उनमें संवत्सरी (पाक्षिक) प्रतिक्रमण आवश्यक है या अखंड जाप ? यदि जाप करेगा तो प्रतिक्रमण कैसे करेगा ?

उत्तर : पर्युषण पर्व के समय जो अखंड जाप विठाया जाता है; वह अखंड चले तो अखंड चलना चाहिये, किन्तु प्रतिक्रमण भी होना चाहिये। अतः व्यवस्था इस प्रकार जमानी चाहिये कि दोनों ही कार्य सम्पन्न हो जायं। वह इस प्रकार से हो सकता है- जैसे अभी ७ वजे के लगभग सूर्यास्त होता है अतः उस समय जाप करने वाले भाई ६.३० से ७.३० वजे तक जाप करलें, तब तक दूसरे भाई जो स्वयं प्रतिक्रमण जानते हों तो स्वतः अलग प्रतिक्रमण कर लें। अलग-से प्रतिक्रमण आधा घण्टा या ३५ मिनट में हो सकता है। अतः सूर्यास्त के लगभग प्रारंभ किया गया प्रतिक्रमण ७.३० तक पूर्ण हो सकता है। जिनका ७.३० तक प्रतिक्रमण हो जाय वे जाप में बैठ जायं, और ७.३० से ८.१० तक वे अपना प्रतिक्रमण अलग-से करलें। इस प्रकार की व्यवस्था जमाने से दोनों कार्य किये जा सकते हैं।

प्रश्न : लोगस्स का पाठ शाश्वत है अथवा अशाश्वत ?

उत्तर : लोगस्स के मूल भाव शाश्वत हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में उनकी परिणति होती है तथा ऐसी भी धारणा है कि अमुक तीर्थंकर के समय तक जितने तीर्थंकर होते हैं उन-उन का उसमें नाम संयुक्त कर दिया जाता है। जैसा कि भद्रवाहु स्वामी ने २४ तीर्थंकर हो जाने से २४ तीर्थंकरों के नाम इस

उत्कीर्तन में संयुक्त किये। वैसे ही अन्यान्य तीर्थंकरों के समय समझना चाहिए। परन्तु भावी के तीर्थंकरों का अथवा अन्य अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकरों का लोगस्स में नाम संयुक्त नहीं किया जाता।

अनुयोगद्वार में इसका उत्कीर्तन नाम आया है। पर वर्तमान लोगस्स में चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति होने से इसे चतुर्विंशति स्तव कहा जाने लगा है।

प्रश्न : स्थानकवासी समाज में "इच्छामि खमासमणो" के पाठ से वन्दना क्यों नहीं की जाती जबकि यह उत्कृष्ट वन्दन माना गया है ?

[illegible] : स्थानकवासी समाज में 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से वन्दन किया जाता है पर [illegible] क्योंकि आगमों में सामान्यतया वन्दना तिक्खुत्तो के पाठ से होने का चरितानुवाद विपुल मात्रा [illegible] सामान्य रूप से जब भी वन्दन-नमस्कार करने का प्रसंग आता है तब तिक्खुत्तो के पाठ से ही किया जाता है।

"इच्छामि खमासमणो" के पाठ से प्रतिक्रमण के समय तृतीय आवश्यक में वन्दना उसके पश्चात् भी की जाती है। अतएव इच्छामि खमासमणो के पाठ से वन्दन करना राजमार्ग नहीं किन्तु विशिष्ट प्रसंग से है। तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दन राजमार्ग है और वह विशिष्ट वन्दन के अतिरिक्त समय में यथास्थान होता है।

प्रश्न : खमासमणो दो बार क्यों दिया जाता है ? पहली बार में बीच में खड़े होना तथा दूसरी बार में खड़े न होने का क्या कारण है ?

उत्तर : 'खमासमणो' द्वारा गुरु से विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना की जाती है। शिष्य तैंतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना हो गई हो, तो उसके लिए प्रतिक्रमण के प्रसंग से गुरु से क्षमायाचना करता है। आशातना मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है - खड़े-खड़े की गई आशातना की क्षमायाचना खमासमणो की पहली पाटी में खड़े होकर की जाती है। बैठे-बैठे की गई अविनय आशातना की क्षमायाचना खमासमणो की दूसरी पाटी द्वारा बैठे-बैठे की जाती है।

प्रश्न : सामान्य केवलियों को कुछ परम्पराएं अरिहंत पद में वन्दन करती हैं और कुछ साधुपद में वन्दना करती हैं। यह अन्तर क्यों ?

उत्तर : इस विषय पर किंचिद् गहराई से चिन्तन किया जाय तो यह विषय स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

एक दृष्टिकोण यह है कि शास्त्रीय धरातल पर गुणस्थानों को सम्मुख रख कर चिन्तन किया जाय। साधारण केवली हो या तीर्थंकर, इनके तेरहवां आदि गुणस्थान माने गये हैं और छट्ठे आदि गुणस्थानवर्ती साधक को छद्मस्थ साधु माना गया है। ये दोनों अपने वन्दन की अपेक्षा नहीं रखते। पर वन्दन करने

वाले विवेकी पुरुषों पर निर्भर है कि वे तीर्थंकर केवली और साधु के स्वरूप को समझ कर उन्हें यथास्थान नमस्कार करें। यदि कोई विवेक के दीपक को धूमिल कर तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती केवलियों को छठे गुणस्थान आदि साधक की श्रेणी में लाकर वन्दन करता है तो क्या यह उनकी- केवलियों की आसातना नहीं है ? यह तो वैसा ही हुआ कि प्रिंसिपल को अत्यधिक अबोध छात्रों के साथ बिठाकर चलना।

हम नमस्कार मन्त्र की ओर देख लें। प्रथम पद में "णमो अरिहंताणं" कहा है। इसका अर्थ है घनघाती कर्मों को नाश करने वालों को नमस्कार [illegible] [illegible] गया है और न

इसमें व्यक्तिगत रूप से न तो [illegible] [illegible] कर्मों का नाश दोनों करते हैं अतः अरिहंत पद से दोनों ही वन्दनीय हैं। अगर अरिहंत पद से तीर्थंकर ही अभीष्ट हों तो फिर "णमो अरिहंताणं" के स्थान पर "णमो तित्थयराणं" ही कह देते ।

अतः स्पष्ट है कि सामान्य केवली भी अरिहंत पद में ही (नमस्कारणीय) वन्दनीय हैं ।

प्रश्न : एक दिन के दीक्षित साधु को पचास साल की भी दीक्षिता साध्वी वन्दना करती हैं ? ज्येष्ठ शब्द के अलावा और भी कोई प्रमाण है क्या ?

उत्तर : आगम वाक्य गहनतम अर्थ से परिपूर्ण होता है। यह आवश्यक नहीं कि एक ही विषय के अनेक प्रमाण शास्त्रकार दें। फिर भी दीक्षा ज्येष्ठ के अतिरिक्त अन्य प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि स्त्रीवेद का बंध दूसरे गुणस्थान तक होता है, जब कि पुरुष वेद का बंध नववें गुणस्थान तक होता है। गुणस्थान की दृष्टि से दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा नवम् गुणस्थान में विशुद्धि अत्यधिक होती है। अतः गुणस्थान की अपेक्षा भी पुरुष ज्येष्ठ सिद्ध होता है।

एक अन्य बात यह भी है कि पुरुष वेद की कामवासना तृणाग्नि के समान शीघ्र ही उत्पन्न होकर पूर्ण हो जाती है जब कि स्त्रीवेद की करीषाग्नि के समान बहुत समय तक चलती रहती है। इससे भी पुरुष वेद की उत्कृष्टता द्योतित होती है। क्योंकि पुरुष वेद में मोह की स्वल्पता होती है। जिसका मोह स्वल्प होता है उसको गुणों की दृष्टि से बड़ा माना जाता है। इसी पुरुष वेद की प्रधानता के परिणामस्वरूप पूर्व जन्म में पुरुष वेद का जो कर्म संचय हुआ उसी का प्रतीक वर्तमान का पुरुष शरीर है। अतः आगमिक दृष्टि एवं गुणों की अपेक्षा से पुरुष ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी पद ज्येष्ठ माना जाता है। जैसे एक पुत्र की आयु ५० वर्ष की है और पुत्रवधु की आयु ४५ वर्ष की है। पुत्रवधू ने स्वल्प वय से ही धर्म-ध्यान आदि श्राविका के गुणों को जीवन में उतार रखा है। ३० वर्ष की

अवस्था में सजोड़े ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है। लेकिन उसके श्वसुर ने दूसरी शादी की। जिसके साथ शादी की वह १८ वर्ष की कन्या है। धर्म-ध्यान तो दूर रहा, उसमें मानवीय संस्कार भी पूरे नहीं हैं। वैसी उस १८ वर्षीया सासू को वह ४५ वर्षीय गुणवान् पुत्रवधू नमस्कार करती है क्योंकि उस कन्या का पद सासू का है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति पद पर ३५ वर्ष का नवयुवक हो तो वह सबसे बड़ा एवं सबका आदरणीय होगा। यह गरिमा उसके पद के साथ है। इसी प्रकार पुरुष एक दिन का दीक्षित भी हो फिर भी उपरोक्त प्रमाणों तथा पुरुष ज्येष्ठता [illegible] प्रव्रजित साध्वी उस साधु को वन्दन करती है। यह सब पूर्व कर्मोपार्जित पिण्ड (शरीर) का [illegible] है। जहां पिण्ड रूप शरीर गौण है, भाव प्रधान है, वहां भावों की दृष्टि से पांचवें भाव वन्दन में सभी [illegible] करते हैं।

प्रश्न : गुजराती समाज गुरुवन्दना के तिक्खुत्तो पाठ में "करेमि" शब्द का उच्चारण नहीं करते अतः करेमि शब्द का उच्चारण करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर : तिक्खुत्तो के पाठ में एक मत का ऐसा कहना है कि तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि यह पाठ विधि का सूचक है। इस मत के अनुसार विधि यदि ऊपर से समझाकर वंदामि पाठ से उच्चारण कराया जाता है तो तिक्खुत्तो से करेमि तक सभी छोड़ना उपयुक्त रहता है न कि सिर्फ करेमि शब्द। पर उपर्युक्त विधि हर कोई समझावे ऐसी स्थिति नहीं रहती इसीलिए इन विधिपरक शब्दों सहित उच्चारण करना योग्य रहता है। अतः करेमि शब्द का भी उच्चारण हो जाने से हर व्यक्ति को इस विषयक ज्ञान होने में सुविधा रहती है।

प्रश्न : कायोत्सर्ग के अन्दर कितने लोगस्स का ध्यान करना, क्या मूल सूत्र में इसका उल्लेख है ?

उत्तर : मूल सूत्रों में लोगस्स का काउसग्ग करना चाहिए, इसका उल्लेख नहीं होने से ही अनेक प्रकार के भेद दिखलाई देते हैं। उन सब का एकीकरण करने के लिए सम्वत् १९९० अजमेर वृहत् साधु सम्मेलन में तथा २००१ सादड़ी सम्मेलन में सर्वानुमति प्रस्ताव पारित हुआ कि सम्वत्सरी को २० लोगस्स, चौमासी को १२ लोगस्स, पक्खी को ८ लोगस्स, प्रतिदिन ४ लोगस्स का ध्यान करना।

सभी ने सर्वानुमति के प्रस्ताव को मान्य किया। तदनुसार आज भी लोगस्स का ध्यान किया जाना चाहिए ताकि विभिन्नता में भी एकता के दर्शन हों। सर्वानुमति का वह प्रस्ताव निम्नानुसार है :-

"साधु साध्वियांए मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, चौमासी अने सम्वत्सरीनुं एकज प्रतिक्रमण करवुं, वे नहीं अने कायोत्सर्ग देवसी, रायसी ना

चार लोगस्स, पक्खी ना आठ, चौमासिक ना १२ अने सम्वत्सरी ना २० लोगस्स आ प्रमाणे श्रावकों ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलन भल्लावण करे छे, आ ठराव सर्वानुमते पास करेल छे:।"

(मुनि सम्मेलन नो संक्षिप्त हेवाल ता. २३-४-१६३३ वार रवि)

प्रश्न : कायोत्सर्ग एवं ध्यान में क्या भेद है ?

उत्तर : एकात्मकतापूर्वक आत्मिक परिणाम/अध्यवसाय ध्यान कहलाता है। काया के प्रति उदासीनता, अनासक्तता कायोत्सर्ग कहलाता है।

प्रश्न : "आगामी काल के पच्चक्खाण में दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं" प्रतिक्रमण में ऐसा प्रतिदिन बोला जाता है। जब पच्चक्खाण अभी किये ही नहीं तो दोष सेवन कैसे हो गया ? जब दोष सेवन किया ही नहीं तो मिथ्या दुष्कृत किसका?

उत्तर : प्रतिक्रमण में जो आगामी काल के पच्चक्खाण के सम्बन्ध में 'मिच्छामि दुक्कड़ं' दिया जाता है वह पाठ इस प्रकार है :-

"गये काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक, आगामी काल के पच्चक्खाण के विषय में जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

इसमें केवल आगामी काल के पच्चक्खाण का ही नहीं अपितु भूतकाल के प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक व आगामी काल के पच्चक्खाण के विषय में मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रत्याख्यान ग्रहण किये जाते हैं, उनकी एक विधि होती है। उस विधि का संकेत भगवती सूत्र शतक ८, उद्देशक ५ में प्राप्त होता है यथा :- समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलए पाणाइवाए अपच्चक्खाए भवइ, से णं भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेइ?

गोयमा ! तीयं पडिक्कमड़, पड़पन्न संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ। इसकी टीका में लिखा गया है कि इसमें गौतम ने प्रभु से पूछा है, जो श्रमणोपासक श्रावक होता है, उसके सम्यक्त्व की प्रतिपत्ति के पहले प्राणातिपात का प्रत्याख्यान तो होता नहीं क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्ति के पहले देश विरति के परिणाम उसके नहीं होते हैं। जब उसके सम्यक्त्व प्रतिपत्ति के बाद प्राणातिपात का प्रत्याख्यान होता है, तब वह क्या करता है ? इसके उत्तर में प्रभु कहते हैं- हे गौतम ! जब वह प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है, तब वह अपने भूतकाल में हो गये प्राणातिपात का प्रतिक्रमण करता है। अर्थात् भूतकाल में उसके द्वारा जो भी प्राणातिपात हो गया है उसकी वह निंदा करता है। इस निंदा द्वारा वह उससे दूर होता है तथा वर्तमान में जो उससे प्राणातिपात हो रहा है, उसे वह करता नहीं

है- रोक देता है तथा भविष्य में जो प्राणातिपात उसके द्वारा होने वाला है, उसका वह त्याग कर देता है अर्थात् मैं प्राणातिपात नहीं करूँगा, ऐसा वह निश्चय कर लेता है।

यह प्रत्याख्यान ग्रहण करने की जो विधि है, इस विधि में कोई अविधि हुई हो तो उसके प्रतिक्रमण में मिच्छामि दुक्कड़ं दिया जाता है, केवल आगामी काल के पच्चक्खाण के विषय में नहीं।

इसके अलावा प्रतिक्रमण, श्रद्धा-प्ररूपणा व स्पर्शना-इन तीनों का किया जाता है। जिस विषय की श्रद्धा में अन्तर आया हो तो श्रद्धा विषयक उसका प्रतिक्रमण होता है। इसी प्रकार प्ररूपणा का भी होता है। आगामीकालीन प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में श्रद्धा प्ररूपणा में अतिक्रमादि का प्रसंग बन सकता है। अतः ज्ञात, अज्ञात अवस्था में भी यदि आगामी काल के प्रत्याख्यान के प्रति श्रद्धा-प्ररूपणा आदि में अन्तर आया हो तो उसका मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है।

प्रश्न : स्वाध्याय के काल-अकाल की मर्यादा ३२ आगमों के अलावा किसी प्राकृत ग्रन्थ जैसे गौतम कुलक, स्तुति, अष्टक आदि के बारे में भी रखना चाहिये या कैसे ?

उत्तर : स्वाध्याय की कालमर्यादा कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के लिये मानी गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य के लिए कालमर्यादा का ऐसा कोई प्रावधान नहीं है।

प्रश्न : कहीं-कहीं निवास के समीपवर्ती घरों में माँस-मच्छी खाते हैं। वह ज्ञात-अज्ञात दोनों में ही होते हैं तो स्वाध्याय में बाधा पड़ती है क्या ?

उत्तर : मांस-मच्छी आदि दृष्टि में नहीं आते हों या गंध आदि आने का प्रसंग भी नहीं हो तो द्रव्यक्षेत्र-कालभाव को लक्ष्य में रख कर स्वाध्याय करने के लिये सोचा जा सकता है।

प्रश्न : स्वाध्याय के भेदों का जो विवेचन है, जैसे- शास्त्र पढ़ना, पढ़ाना, शंका होने पर विशिष्ट ज्ञानी से पूछना, उपार्जित ज्ञान को स्थिर रखने के लिए पुनः-पुनः परिवर्तना आदि सब कार्य आभ्यन्तर तप कैसे होगा ? आभ्यन्तर तप का संबंध अंतर साधना से है तब आभ्यन्तर तप अन्यों के सहारे कैसे होगा?

उत्तर : तप के बाह्य और आभ्यन्तर, ये दोनों भेद मुख्य-गौण भाव की प्रधानता से किये गये हैं। बाल-तप में भी आंतरिकता की अपेक्षा है। उपवास का तात्पर्य है उप-समीपे, वास रहना अर्थात् जिसमें आत्मा की समीपता हो। ऊनोदरी तप में भी आभ्यंतरता अपेक्षित है। जैसे किसी व्यक्ति ने अमुक पदार्थ

को खाना प्रारंभ किया। उसमें उसे बहुत रस आ रहा था कि सहसा वह ऊनोदरी तप करने की भावना से अपने हाथ को, मुंह को, मन को रोक लेता है। उस समय मन को रोकने में आंतरिकता का सहारा आवश्यक है। इसी तरह अन्य बाह्य तपों के विषय में समझा जा सकता है।

यही अपेक्षा आभ्यंतर तप के संदर्भ में भी समझी जा सकती है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य आदि में क्या बाह्य तप की अपेक्षा नहीं होती ? जब विनय, वैयावृत्य आदि तप दूसरों के सहारे मान्य किये जाते हैं, तो स्वाध्याय रूप आभ्यंतर तप अन्यों के सहारे क्यों नहीं हो सकता ? अर्थात् हो सकता है। जब दूसरों के सहारे आभ्यंतर तप हो सकता है तो वाचनादि को आभ्यंतर तप मानने में कोई दुविधा नहीं रहती।

प्रश्न : स्वाध्याय तप कालसापेक्ष है या त्रैकालिक है ?

उत्तर : स्वाध्याय तप कालसापेक्ष भी है व त्रैकालिक भी। अमुक आगम का स्वाध्याय अमुक काल में करना, यह कालसापेक्ष स्वाध्याय तप हुआ किंतु पृच्छनादि स्वाध्याय के अन्य भेदों के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं है अतः वह असमय में भी किया जा सकता है। इसके अनुसार त्रैकालिक स्वाध्याय तप हो सकता है। अथवा भरत, ऐरावत क्षेत्र में स्वाध्याय तप कालसापेक्ष है, जबकि महाविदेह क्षेत्र में स्वाध्याय तप त्रैकालिक संभव है।

प्रश्न : जिस काल में सूत्र उपलब्ध न हों, तब वाचना, पृच्छना का क्या भावार्थ रहेगा ?

उत्तर : जिस काल में पुस्तकादि रूप द्रव्यश्रुत उपलब्ध नहीं थे उस समय भी वाचनादि कार्य गुरु परम्परा से चलते ही थे। उदाहरण के रूप में आर्य सुधर्मा स्वामी ने जंबू स्वामी को वाचना दी। अतः गुरुगम से मौखिक रूप से सूत्रों का अध्ययन करना भी वाचना है। इसी तरह से पृच्छनादि के भावार्थ का चिंतन किया जा सकता है।

प्रश्न : जिस काल में सूत्र का अभाव तथा कंठस्थ ज्ञान का भी अभाव हो तब स्वाध्याय तप की आराधना होगी या नहीं ?

उत्तर : जिस काल में सूत्र पुस्तक रूप में भले ही न हों, किंतु श्रुतज्ञान व उसके ज्ञाता मौजूद हैं तो उनसे मौखिक रूप में वाचनादि हो सकती है। जैसा कि आर्य सुधर्मा स्वामी ने आर्य जंबू स्वामी को वाचना दी और वह क्रम देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के लगभग चलता रहा।

पुस्तक रूप में अथवा कंठस्थ रूप में- दोनों का अभाव तीर्थ विच्छिन्न काल में ही संभव है जैसे ५वें आरे के अंत में। उस समय स्वाध्याय तप ही क्या, अन्य तप भी संभव नहीं है।

प्रश्न : साधु को धुली हुई मुंहपत्ती का प्रतिलेखन कितने दिन के अन्तराल से करना चाहिए ?

उत्तर : मुँहपत्ती धुली हुई हो अथवा बिना धुली हुई, प्रतिलेखन उभयकाल नियमित होना चाहिए। कदाचित् कभी भूल से रह जाय तो उसका प्रायश्चित्त आता है।

प्रश्न : जिस प्रकार स्थंडिल जाकर गुरु से पहले शिष्य गमनागमन का प्रतिक्रमण करता है तो आशातना लगती है। उसी प्रकार गोचरी आदि में जाकर गुरु से पहले इर्यापथिक प्रतिक्रमण करले तो आशातना लगती है क्या ?

उत्तर : गुरु अथवा बड़ों के पश्चात् ही गमनागमन आदि काउस्सग्ग करना चाहिये। ३३ आशातना में जो स्थंडिल शब्द का प्रयोग हुआ उसे केवल स्थंडिल तक ही सीमित नहीं करके तदनुसार प्रत्येक स्थान पर वह स्थिति लागू समझनी चाहिये।

प्रश्न : कोई साधु गृहस्थ के घर पेनादि भरने के लिये गृहस्थ की आज्ञा लेकर बैठ सकता है या नहीं ?

उत्तर : किसी सबल कारण के अभाव में गृहस्थ के घर आज्ञा लेकर भी नहीं बैठना चाहिये।

प्रश्न : जैसे साधु के लिए यह नियम है कि वह गृहस्थ के सामने मुंहपत्ती नहीं खोले, तो क्या गृहस्थ को मुंह दिखाकर गृहस्थ को उसका प्रायश्चित्त दिया जा सकता है?

उत्तर : साधु को मुँह दिखाने की दृष्टि से गृहस्थ के सामने मुँहपत्ती कतई नहीं खोलना चाहिये और न ही गृहस्थ को प्रायश्चित्त आदि का प्रसंग रहता है।

प्रश्न : यह एक प्रकार की समाचारी है कि साधु बाहर जाये तब आवस्सही-आवस्सही कहे और वापस लौटे तब निस्सही-निस्सही कहे, तो क्या ऐसा कहना जरूरी है? तथा आवस्सही आदि मन में कहना या उच्च स्वर से ? यदि बड़े साधु हों और वे जोर से नहीं कहें तो छोटा साधु उस विषय में उनको कह सकता है क्या ?

उत्तर : साधु बड़ा हो अथवा छोटा आवस्सही-निस्सही आदि शब्दों का उच्चारण कुछ जोर से करना चाहिये। बड़े संतों को कुछ भी कहने का प्रसंग आवे तो छोटे संत को विनम्र भाव से उन्हें निवेदन कर देना चाहिये, आदेश रूप में नहीं।

प्रश्न : साधु रात्रि में एक कमरे में अकेला सो सकता है क्या ? यदि उसे सोना नहीं कल्पता है तो उसको प्रायश्चित्त आता है क्या ?

उत्तर : कमरा हो चाहे वरामदा, साधु-साध्वी को एक-दूसरे की दृष्टि में ही सोना चाहिये। जहां दृष्टि का प्रसार नहीं होता है वहां चाहे कमरा हो अथवा वरामदा, नहीं सोना चाहिये। इस मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

प्रश्न : साधु के नेश्राय में रही हुई पुस्तकादि गृहस्थ ज्ञानादि वृद्धि के लिये ले जाय और वह गृहस्थ १, २ या ३ दिन में वापस देवे तो साधु को प्रायश्चित्त आता है क्या ? आता है तो कितना ?

उत्तर : साधु के नेश्राय की पुस्तक को स्थानक से बाहर ले जाने हेतु नहीं देना चाहिये तथा रात्रि में भी गृहस्थ के पास नहीं रहनी चाहिये। कदाचित् गृहस्थ के पास रह गयी हो तो साधु को प्रायश्चित्त आता है। भूल से रह जाने पर साधारणतया एक रात्रि का एक उपवास दिया जाता है।

प्रश्न : यदि कोई बड़ा साधु अपने साथ के अन्य साधुओं से कहे कि यह प्रतिलेखन आदि कार्य इस प्रकार से नहीं, इस प्रकार करना चाहिये, तो वह अन्य साधु इस प्रकार कह सकता है क्या कि आप इस प्रकार क्यों कहते हैं ? जो जैसा करेगा वैसा पायेगा यानी आपके इस प्रकार फरमाने पर कषाय की वृद्धि होती है इसलिये आपको इस प्रकार नहीं कहना चाहिये।

उत्तर : छोटे अथवा बड़े संत को किसको क्या कहना, कैसे कहना, कितना कहना-इसका विवेक रखना चाहिये। अन्यथा यदि कषाय वृद्धि होने की संभावना हो तो वहां तटस्थ रहना उपयुक्त रहता है तथा कर्तव्यपालन की दृष्टि से अनुशास्ता को उसकी जानकारी दे देनी चाहिये।

प्रश्न : साधु मलमल का चोलपट्टा पहन कर स्थानक के वाहर जा सकता है क्या ?

उत्तर : मलमल का चोलपट्टा स्थानक में भी नहीं पहन सकता तो स्थानक से बाहर जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न : साधु गृहस्थ से सेक करने की थैली आदि स्थानक में मंगवा सकता है क्या ?

उत्तर : साधु को सेक करने की थैली अथवा कोई भी वस्तु लाचारी अवस्था के बिना गृहस्थ से स्थानक में नहीं मंगानी चाहिये।

प्रश्न : यदि कोई कन्दोई मिठाई वेचने हेतु दूसरे गांव से आवे और वह साधु को भावना भावे तो साधु उसके पास से मोदकादि ग्रहण कर सकता है क्या?

उत्तर : बेचने के निमित्त लायी गयी सामग्री भावना भाने पर व्यवहार शुद्धि के साथ ग्रहण की जा सकती है।

प्रश्न : यदि गृहस्थ के यहां गरम पानी के बर्तन में मौसमी आदि फ्रूट डाला हुआ हो तो साधु उस मौसमी आदि को या गरम पानी को ग्रहण कर सकता है या नहीं तथा यदि गृहस्थ बहराने के लिए उस बर्तन के हाथ लगा दे तो घर असुसता होता है क्या ?

उत्तर : गरम पानी में डाल देने मात्र से अखण्ड मौसमी आदि अचित्त नहीं हो जाती इसलिये वह सामग्री नहीं ली जा सकती। गृहस्थ के हाथ लगा देने पर घर असुसता करने का प्रसंग रहता है।

प्रश्न : साधु खूंटी आदि पर टंगे हुए थैले में से कोई वस्तु ले सकता है क्या ?

उत्तर : खूंटी पर टंगे थैले आदि से ग्रहण करने में अयतना की संभावना हो तो साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : आधाकर्मी आहार साधु यदि भोगे तो उसको क्या प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर : आधाकर्मी आहार किस अवस्था-विशेष में उपयोग किया गया है, उसकी आलोचना पर ही प्रायश्चित्त निर्भर करता है तथापि प्रायश्चित्त दीक्षा छेद से तो कम का नहीं आता।

प्रश्न : साधु रात्रि में प्रवचन देने के लिये कितनी दूर जा सकता है तथा कितनी रात्रियों तक जा सकता है ?

उत्तर : रात्रि में परठने के लिये जितनी भूमि में जा सकता है, प्रवचन के लिये भी रात्रि में उतनी भूमि की मर्यादा समझनी चाहिये। वह भी एक ग्राम में अपवाद स्वरूप एक या दो रात्रि, उससे अधिक नहीं।

प्रश्न : क्या सन्त अपने पहनने के वस्त्र, नाखून, बाल आदि श्रावक को तपस्या करवा कर दे सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : सन्तों को अपनी नेश्राय की वस्तुएँ अथवा अपने कपड़े, नाखून, बाल आदि वस्तुएँ गृहस्थों को देना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि श्रमण जीवन की मर्यादाओं के अन्तर्गत रहते हुए अपवाद होता है। किसी का भला हो, या न हो पर बदनामी अवश्य हो जाती है। अतः साधु-साध्वियों को अपनी नेश्राय की वस्तुएं गृहस्थी को नहीं देनी चाहिये। इसके साथ ही अगर कोई श्रावक भावुकतावश साधुओं के पास से अथवा उनके पात्रादि में से कोई वस्तु उठाने की चेष्टा करे तो उसे रोकना चाहिए और थोड़ा कठोर बन करके साधुओं के पात्रादि

से वस्तुएँ उठाने का त्याग करवा देना चाहिये। साधु स्वयं चला कर यदि गृहस्थ को देता है तो भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करता है। साधु गृहस्थ के यहां से कोई वस्तु लावे और गृहस्थों को बांटता रहे तो वह गृहस्थ की चोरी करता है क्योंकि गृहस्थ साधुओं के उपभोग के लिए आहारादि का दान करता है। कदाचित् किसी परिस्थितिवश कभी अशनादिक अधिक आ गया हो तो उसके लिए भी भगवान ने पांचवीं समिति के अन्तर्गत विधि बतलाई है। पर गृहस्थों को देने का विधान नहीं किया। क्योंकि गृहस्थों को अशनादि अथवा स्वयं नेश्रायगत वस्त्रादि देना तीर्थंकर भगवन्तों ने आदान यानी कर्मवन्ध का कारण माना है। अतः साधु को अपने नेश्राय का अशनादि अथवा वस्त्रादि गृहस्थों को नहीं देना चाहिये।

प्रश्न : साधु स्थानक में दिन में कम्बल ओढ़ सकता है या नहीं ?

उत्तर : आवश्यकतानुसार साधु स्थानक में दिन में कम्बल ओढ़ सकता है।

प्रश्न : यदि धोवन-पानी गृहस्थ के यहां हो और गृहस्थ उस धोवन में लौंग, इलायची इत्यादि बांटकर डाल दे तो क्या वह धोवन ही माना जाता है ? यदि वह धोवन माना जाता है तो साधु के लिए कल्पनीय है या नहीं ?

उत्तर : धोवन पानी में यदि श्रावक लौंग, इलायची आदि स्वयं के लिए पीस-बाँटकर डाल देता है तो वह मर्यादित काल तक धोवन रहता है, सचित्त नहीं होता। साधु भी ग्रहण कर सकता है। कच्चे पानी में वे वस्तुएं डाली हों तो साधु नहीं ले सकता।

प्रश्न : जैसे एक व्यक्ति का घास है, दूसरा व्यक्ति उसको लाकर अन्य व्यक्ति के घर पर रख देता है और उस घास को साधु भूल से ले आवे, कदाचित् वह घास सदोष हो तो उसमें से किसका घर असुसता हुआ ?

उत्तर : साधु के निमित्त दूसरे घर लाकर रखा हुआ सामान साधु को नहीं लेना चाहिये। भूल से ले आवे तो, और जानकारी हो जावे तो प्रायश्चित्त ले लेना चाहिये। घास की सदोषता का जो उल्लेख है उसका तात्पर्य क्या है ? त्रस जीवयुक्त अथवा अनाज के दानों से युक्त ? यदि त्रस जीवों से युक्त हो तो घर असुसता नहीं होता है। अनाज आदि से सदोष हों तो जिसके घर से लाया गया, उसी का घर असुसता समझना चाहिये।

प्रश्न : जिस प्रकार स्थंडिल से आकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना होता है उसी प्रकार जितनी बार पड़गा परठे ध्यान करना चाहिये क्या ?

उत्तर : जितनी बार स्थंडिल जाने अथवा लघु नीत आदि परठने का प्रसंग आवे, उतनी वार ही ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना चाहिये।

प्रश्न : लघु नीत का पात्र कितने मिनट रह सकता है ?

उत्तर : लघु नीत आदि समुर्च्छिम उत्पत्ति होने वाले पदार्थों में एक मुहूर्त पश्चात् समुर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बनती कोशिश आधा घण्टा से ऊपर नहीं रखा जाय तो उपयुक्त है। ऐसी परम्परा है।

प्रश्न : स्थंडिल प्रतिलेखन तथा गोचरी आदि का ध्यान एक साथ किया जा सकता है क्या ?

उत्तर : ध्यान एक साथ किया जा सकता है।

प्रश्न : होटल से साधु पेयादि ला सकता है क्या ?

उत्तर : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलतानुसार विवेक वर्तने का प्रसंग है।

प्रश्न : पंचायती आयम्बिल शाला, जिसमें देहरावासी के लिए भोजन-पानी बनता है, वहां का आहार-पानी लेना या नहीं ? यदि लें तो सभी घर फरसे हुए माने जायेंगे या नहीं ?

उत्तर : जिसमें सभी व्यक्तियों की भागीदारी हो तो शय्यान्तर की गवेषणा करनी आवश्यक है। यदि इन व्यक्तियों में शय्यान्तर भी सम्मिलित है तो वह आहार-पानी ग्राह्य नहीं हो सकता एवं दाणट्ठा, पुणट्ठा, वणीमगट्ठा और समणट्ठा- इन चारों के निमित्त से अर्थ (धन) लगा हो तथा धर्मादा की दृष्टि से भी यदि पैसे लिये जाते हों और वह धर्मादा देने वाला व्यक्ति या उसके परिवार वाले उसमें भोजन नहीं करते हों तो वह भी ग्राह्य नहीं।

उपरोक्त दाणट्ठा के होने पर यदि पंचायती आयंबिल शाला हो और दानदाता भी उसमें से आहार-पानी लेते हों तो उस आयंबिल शाला से आहार-पानी लिया जा सकता है। वहां से लेने में सभी घर फरसे नहीं माने जा सकते। जैसे एक ही व्यक्ति के दुकान और घर अलग-अलग हैं। ऐसी हालत में दुकान पर से वस्तु लाई जाय तो घर स्पर्श हुआ नहीं माना जाता, वैसे ही यहां पर भी समझना चाहिए। पर जितने भी व्यक्तियों की भागीदारी हो, उनकी देने के लिए अनुमति हो अर्थात् उन दानदाताओं का अभिप्राय दान देने का रहा हुआ हो तो लिया जा सकता है।

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वितत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ।।

प्रश्न : सभी के लिए ढाबा चलता हो, कोई भी आगन्तुक रुपये देकर जीम सकते हों, तो वहां का आहार लेना या नहीं ?

उत्तर : ऐसे ढावों में भी दाणट्ठा आदि न हो और सबसे पूरे पैसे लिये जाते हों तथा साधु को वहराने का पैसा नहीं लिया जाता हो तो वहां का आहार लेने में कोई एतराज नहीं।

प्रश्न : साधु वर्षा आदि के कारण-विशेष से स्थानक में किसी के लिये रहे हुवे धोवन आदि पदार्थ को ले सकता है क्या ?

उत्तर : नहीं ले सकता। क्योंकि स्थानक में धोवन आदि पदार्थ श्रावक, दया आदि विशेष प्रसंग पर ही लाता है और वह मर्यादित सीमा तक ही रहता है। प्रारम्भ में कदाचित् प्रासुक भी हो, और कदाचित् किसी साधु ने एक वार वैसा ले भी लिया तो संभव है श्रावक साधु के निमित्त भी ला सकता है। जिसमें आधाकर्मी, सामने लाए हुवे आदि दोषों की पूरी संभावना रहती है। अतः इस प्रकार के दोषों की संभावना से बचने हेतु प्रासुक आहार, पानी वस्ती में से संयमी समाचारी के अनुसार ही लेना योग्य रहता है। स्थानक में आहार-पानी कतई नहीं लेना चाहिये।

प्रश्न : मुरब्बा या च्यवनप्राश आदि के डिब्बे पूर्ण रूप से वन्द किये हुए हों तो साधु उसे औषधि के रूप में बन्द का बन्द ले सकता है या नहीं ?

उत्तर : जो औषधि गृहस्थ के घर में से खुली लाने में कठिनाई नहीं पड़ती हो तो उसका बन्द डिब्बा नहीं लेना चाहिये। पर जो औषधि गृहस्थ के यहां से खुली लाने में मात्रा आदि का ध्यान नहीं रहे तो वैसी औषधि का बन्द पैकेट भी अपवाद मार्ग में लिया जा सकता है। पर मुरब्बा आदि के वन्द डिब्बे लेना ठीक नहीं है क्योंकि वह गृहस्थ के यहां से आसानी से लाया जा सकता है।

प्रश्न : जैसे ४ साध्वियाँ हैं। उनमें से एक की तपस्या है। वह साध्वी पारणा लाने के लिए गृहस्थों के यहां भिक्षार्थ पधारें और उसी घर पर जाय जिस घर से पहले दिन अन्य साध्वियों ने गोचरी की थी। उस पहले दिन के आहार को तपस्विनी साध्वी ने नहीं लिया किन्तु अन्य साथ की सतियों ने लिया हो तो दूसरे दिन वह तपस्विनी साध्वी उस घर के आहार को ग्रहण कर सकती है क्या ?

उत्तर : पहले दिन के स्पर्शे हुए घर से कारण-विशेष से कोई वस्तु लेना आवश्यक हो तो ली जा सकती है। अन्यथा कोई साध्वी आहार ग्रहण करे अथवा नहीं करे घर सब के लिये समान रूप से स्पर्शा हुआ माना जाता है क्योंकि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि एक हैं। अतः किसी भी साध्वी ने आहार लिया हो, पहले दिन स्पर्शे घर से गोचरी नहीं लानी चाहिये।

प्रश्न : हरा शाक आदि मिश्र हो अर्थात् पूर्णरूपेण मिश्र का विश्वास हो जाय तो उसे साधु खा सकता है क्या ?

उत्तर : जिस हरी सब्जी आदि में मिश्र की शंका हो तो गृहस्थ के यहां पर ही अच्छी तरह गवेषणा कर लेनी चाहिये। कदाचित् गवेषणा के उपरान्त भी भिक्षा में आ गयी हो तो उसे उपयोग में नहीं लेना चाहिये।

प्रश्न : किसी गृहस्थ के घर में पुस्तकें हों तो साधु उनको गृहस्थों द्वारा स्थानक में मंगा सकता है क्या ?

उत्तर : संतों को यदि पुस्तक की आवश्यकता हो तो उसे स्वयं ही गृहस्थ के घर से जांच कर लेनी चाहिये। कदाचित् किसी गृहस्थ को कोई बात पूछनी हो तो उसके द्वारा लाई हुई पुस्तक देखकर उसे उत्तर दिया जा सकता है।

प्रश्न : साधु गृहस्थ को घड़ी के चाबी लगाने के लिये कह सकता है क्या ?

उत्तर : घड़ी आदि में चाबी लगाने के लिये गृहस्थ को नहीं कहना चाहिए। भाषा समिति के अन्तर्गत इस प्रकार कह सकता है कि घड़ी बन्द है या बन्द हो गई है आदि।

प्रश्न : जो कपड़ा फटा हुआ नहीं है, किन्तु गला हुआ है, उस गले हुए कपड़े को बिना जरूरत के यदि फाड़े तो साधु को दोष लगता है या नहीं ?

उत्तर : बिना काम के, चाहे जीर्ण हो अथवा नया, वस्त्र नहीं फाड़ना चाहिए। अजीव काय संयम की स्थिति से ध्यान रखना चाहिए।

प्रश्न : यदि किसी कारण विशेष से साधु के पात्र में सचित्त या मिश्र पानी गृहस्थ बहरा दे तब मालूम पड़ने पर साधु उस पानी को गृहस्थ को वापस लेने को कहे या परठ दे ? पात्र को पोंछले या वैसा ही रखे ?

उत्तर : सचित्त अथवा मिश्र पानी पातरे में आने पर जिस गृहस्थ के यहां से पानी लिया गया हो उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि यह पानी हमारे काम नहीं आ सकता, हमको परठना पड़ेगा। इससे यदि गृहस्थ अपना विवेक वरत लेता है अर्थात् गृहस्थ स्वयं अपने हाथ से वह पानी अपने बर्तन में ले लेता है तो ठीक, अन्यथा उसे परठ देना चाहिए। पात्र को पोंछना नहीं चाहिए, उसको ओंधा खड़ा कर देना चाहिये।

प्रश्न : गृहस्थादि को साधु-साध्वी इस प्रकार क्या कह सकते हैं कि अमुक पदार्थ खरीद कर ले आओ तथा अमुक को थोड़ी-थोड़ी या अधिक-अधिक प्रभावना बांट दो ?

उत्तर : अमुक वस्तु खरीद कर लो अथवा अमुक वस्तु की प्रभावना बांटो आदि सावद्य भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी के लिए वर्जनीय है।

प्रश्न : साधु छींके में पड़ी हुई वस्तु को ग्रहण कर सकता है क्या ?

उत्तर : छींके पर रखी हुई वस्तु साधु को उतरवा कर नहीं लेनी चाहिए।

प्रश्न : सूर्यास्त के समय दवादि पडिहारी वस्तु गृहस्थ को भोलाते समय यदि गृहस्थ सामायिक आदि से युक्त हो तो साधु दवादि को संभला सकता है क्या?

उत्तर : दवादि पडिहारी वस्तुएं बनती कोशिश जहां से लायी गयी हों वहीं भोलानी चाहिए। कदाचित् सूर्यास्त का समय नजदीक आ गया हो और पडिहारी वस्तु के स्वामी की आज्ञा अन्य किसी को भी भोला देने की हो तो सामायिक आदि में स्थित गृहस्थ को भी पडिहारी वस्तु भोलाई जा सकती है।

प्रश्न : यदि कोई पुस्तक पडिहारी मंगाई गई हो, लेकिन वह पुस्तक फटी हुई हो, वैसी स्थिति में साधु उस पुस्तक को ठीक करने की भावना रखे तथा उस पुस्तक को ठीक करने के लिए कपड़े की आवश्यकता हो तो क्या साधु अपनी नेश्राय में रहे हुए वस्त्र को पुस्तक के लगा सकता है ?

उत्तर : साधु पडिहारी पुस्तक लाया हो और वह फट गई हो तो साधु अपने पास का थोड़ा वस्त्र लगाकर उस ज्ञानवर्धक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता है क्योंकि उस समय वह पुस्तक उसकी नेश्राय में है। यदि साधु की नेश्राय में नहीं हो तो जब तक नेश्राय में नहीं ले ली जाय तब तक उसको ठीक नहीं कर सकते हैं।

प्रश्न : चौमासे में वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि के सिवाय और क्या-क्या नहीं ले सकते अर्थात् पेन, कापी, पुट्ठे, स्याही आदि ग्रहण कर सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : जिस भी वस्तु में सूत, ऊन आदि लगे हुए हों, उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। कापी में भी यदि कपड़ा लगा हुआ हो तो वह नेश्राय में नहीं लेना चाहिए। पडिहारी रूप से कपड़े वाली पुस्तक आदि ली जा सकती है। प्लास्टिक लेनी भी उपयुक्त नहीं है। पातरे यदि सूत के बन्धन से रहित हों तो लिये जा सकते हैं।

प्रश्न : पहले दिन फरसे हुए घर से यदि दूसरे दिन भी भूल से आहार ले आवें और लाने के बाद याद आवे या मालूम पड़े तो उस फरसे हुए आहार को परठना चाहिए या खा लेना चाहिए तथा यदि भूल से खाने में आ गया हो तो क्या प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर : गोचरी वाले को विवेक रखना चाहिए कि कल का स्पर्शा हुआ घर नहीं स्पर्शा जाय। कदाचित् भूल में स्पर्श लिया गया हो तो उसका एक उपवास

प्रायश्चित्त आता है। अन्य आधाकर्मी आदि सबल दोषों के अभाव में उसे परठने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न : यदि दर्शनार्थी को आये एक सप्ताह नहीं हुआ हो तो भी मंजन, एनीमा आदि ले सकते हैं क्या ?

उत्तर : दर्शनार्थ आगन्तुक महानुभावों से असणं पाणं आदि खाद्य सामग्री आठ दिन पूर्व नहीं लेनी चाहिए। आठवें दिन लेना चाहें तो जैसा अवसर हो, सोच सकते हैं। अन्य औषधि के रूप में सामग्री यदि अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो तो कारण-विशेष से उसे ग्रहण किया जा सकता है।

प्रश्न : सन्त किसी गृहस्थी के घर पर पहुंचे, उस समय तवे पर रोटी पक रही है, बहिन का हाथ तवे पर नहीं है उस समय क्या संत ऐसा कह सकते हैं कि मैं दरवाजे पर खड़ा हूं, तुम तुम्हारा अवसर देख लो ?

उत्तर : तवे पर रोटी हो और बहिन से उसका संगटा नहीं भी होता हो तब भी संतों को ऐसा कहना नहीं कल्पता कि मैं दरवाजे पर खड़ा हूं, तुम अपना अवसर देख लो। ऐसा कहने से कराना एवं अनुमोदन का मनसा-वाचा दोष लगता है।

प्रश्न : जो साधु-साध्वी केले का संगटा मानते हैं वे साधु-साध्वी केले का पाना ले सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : पका केला वृहत्कल्प सूत्र के अनुसार ग्राह्य है। जो इसे सचित्त मानते हैं उनकी यह धारणा आगमसम्मत नहीं कही जा सकती। यदि कदाचित् कोई स्वेच्छाचार से केले को सचित्त मानता है तो केले के केवल टुकड़े हो जाने मात्र से उसे ग्रहण नहीं कर सकते और न ही उस पर शक्कर आदि डालने मात्र से ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्न : बर्तनों को मांज कर धोने से जो धोवन हुआ है उस धोवन पानी को किसी मटकी में रखा हुआ है तो मटकी में रखा हुआ ग्रहण करना है या नहीं ?

उत्तर : धोवन-पानी यदि बरतन आदि मांज कर धोया हुआ हो और किसी भी बरतन में रखा हुआ हो उस बरतन पर लीलन-फूलन आदि न हो तो उसे साधु अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कर सकते हैं। मटके में रख दिया, इसलिए ग्रहण नहीं करना- आगमसंमत नहीं लगता।

प्रश्न : निशीथ सूत्र में यह कहा गया है कि जो साधु गृहस्थ के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है तो उसे मासिक प्रायश्चित्त आता है, लेकिन साधु

के साथ बैरागी, साध्वी के साथ बैरागिन या मार्ग बतलाने के लिए गृहस्थ साथ में रहते हैं, सो कैसे ?

उत्तर : निशीथ सूत्र में जो गृहस्थ के साथ चलने से प्रायश्चित्त को कहा है वह बैरागी अथवा मार्ग बताने वाले भाई से सम्बन्धित नहीं है। उसका तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ स्त्री-पुरुष आदि परिवार सहित, जैसे देशाटन करते हैं, उस रूप में जो गृहस्थ चलते हैं, ऐसे गृहस्थों के साथ साधु को नहीं चलना चाहिए। अथवा परिवार सहित हैं, ऐसे गृहस्थ के साथ साधु को नहीं चलना चाहिए। अथवा परिवार सहित गृहस्थ को साधु अपने साथ अधिक मंजिल तक नहीं रखे। एकाध मंजिल लाने, पहुंचाने कोई जाता हो तो उसका प्रायश्चित्त नहीं है।

प्रश्न : साधु को जो वस्तु रात्रि में रखना नहीं कल्पता वह वस्तु यदि भूल से रात्रि में साधु के पास रह जाय तो क्या वह वस्तु दूसरे दिन साधु वापर सकता है ?

उत्तर : पेन आदि यदि रात्रि में भोलाना भूल गए हों तो दूसरे दिन उसकी आज्ञा लेकर उपयोग में लिये जा सकते हैं। पर औषधि आदि, जो सहज रूप से उपलब्ध हों वे यदि रात्रि में पास रह गये हों तो उनका उपयोग नहीं करना चाहिए, उन्हें परठ देना चाहिए।

जो औषधि भूल से रात्रि को रह गयी हो वह यदि सहजतया उपलब्ध नहीं हो तो उसकी आज्ञा लेकर उसे उपयोग में लिया जा सकता है। पर ऐसे प्रसंगों की गुरु साक्षी से आलोचना भी कर लेनी चाहिए।

प्रश्न : चातुर्मास से भिन्न मकान में रात्रि-विश्राम या दिन में नींद लेने से शय्यान्तर मानना चाहिए क्या, एवं उस घर की गोचरी का कैसे-क्या मानना ?

उत्तर : चातुर्मास हो या शेखेकाल हो, जिस मकान को छोड़कर अन्य गृहस्थों के निवासरहित मकान में शयन, नींद आदि लेने की प्रक्रिया हो गई हो, तो उस मकान की जिसकी आज्ञा ली है, जब तक आज्ञा नहीं छोड़ी जाय तब तक वह शय्यान्तर कहलाता है। छोड़ने पर भी उस गांव में कुछ दिन रहना हो तो एक रात बीतने पर उसके घर आहारादि नहीं लेना चाहिए।

प्रश्न : संतों के पधारने के एक दिन पूर्व आंगन लिपवाये जाने पर संतों द्वारा उसका उपयोग लेना कल्पता है या नहीं ?

उत्तर : स्थानक अथवा अन्य स्थान के आंगन आदि को लिपवाने के बाद यदि वह पुरसान्तर हो जाता है तो सन्त वहां अपनी मर्यादानुसार ठहर सकते हैं। यदि पुरसान्तर नहीं हुआ हो तो उसका संतों को उपभोग नहीं करना चाहिए। पुरसान्तर का तात्पर्य यह है कि लिपवाने के बाद श्रावक वर्ग द्वारा सामायिक, संवर एवं उठना-बैठना आदि क्रियाओं का वहां हो जाना।

प्रश्न : मक्खन छाछ में नहीं हो, काफी समय से अलग बरतन में पड़ा है। उसको हाथ लगाकर हटा दें तो घर असुसता होता है या नहीं ?

उत्तर : मक्खन छाछ से अलग रखा हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि उसके कोई हाथ लगा दे अथवा इधर-उधर हटा दे तो वैसी स्थिति में मक्खन को ग्रहण नहीं किया जाता। घर भी असुसता नहीं किया जाता- ऐसी पूर्व की परम्परा है।

प्रश्न : यदि किसी परिस्थिति-विशेष से साधु के पात्र में सचित्त या मिश्र पानी गृहस्थ बहरा देवे। बाद में मालूम पड़ने पर यह पानी आप ले लो- ऐसा गृहस्थ को संकेत दे सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : सचित्त या मिश्र पानी के लिये साधु यह कह सकते हैं कि पानी हमारे उपयोग में नहीं आयेगा। इसका संघटा लगने से हम प्रायश्चित्त भी लेंगे तथा हमें इसे परठना पड़ेगा। तब कोई गृहस्थ यह कहे कि मैं इसे वापस अपने भाजन में ले लूं तब यह कह सकते हैं कि जैसा आप उचित समझें। वे अपने पात्र में स्वयं ले लें तो ठीक अन्यथा साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि तुम इसे वापस ले लो। गृहस्थ के नहीं लेने पर उस सचित्त मिश्र पानी को यथायोग्य प्रासुक स्थान पर परठ देना चाहिए और आलोचना करके प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

प्रश्न : प्रभु महावीर द्वारा प्रवेचित साधुचर्या से शारीरिक, आध्यात्मिक, यौगिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साधना कैसे सधती है ?

उत्तर : इस प्रश्न के उत्तर में सबसे पहले यह जानना होगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रवेचित साधुचर्या के मुख्य सूत्र क्या हैं ?

आगम में उल्लिखित साधुचर्या के मौलिक पांच सार्वभौम नियम हैं। यथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत के रूप में कथित है।

अहिंसा महाव्रत वह है जिसमें सूक्ष्म एवं आपेक्षिक सूक्ष्म जीवों से लेकर विशाल से विशाल शरीरधारियों का तथा मानसिक, वाचिक एवं बौद्धिक स्वल्प विकास से लेकर प्रौढ़ विकासयुक्त जगत् के सभी प्राणियों के प्रति आत्मीयतापूर्ण संव्यवहार का भव्य प्रसंग इस पहले महाव्रत के प्रसंग से बनता है। अर्थात् इस विराट् विश्व में समस्त चैतन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" की उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ करना होता है।

जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में उद्घोषित है- "सव्व भूयप्प भूयस्स, समं भूयाइ पासओ पिहिया सव्वस्स दंतस्स, पाव कम्मं न बंधइ।

(दशवैकालिक ४/९)

अर्थात् जगत् के समस्त चराचर प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य हैं। अतः उन आत्माओं को समभावपूर्वक देखता हुआ कर्मों के आगमन को रोक कर विकारों का परिमार्जन करता हुआ जो साधु चलता है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

जव व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति को व्यवहार में परिणत करता है, तव उस प्रवृत्ति के पीछे दो दृष्टिकोण मुख्यतया रहते हैं- एक विषम और दूसरा सम।

विषम दृष्टिकोण में विकारों की प्रचुरता एवं स्वयं के लिए अन्य की अपेक्षा उपमर्दनादि में निस्संकोच रहता है। उसकी आन्तरिक भावना यह रहती है कि मैं दूसरों की दृष्टि से वचता हुआ अधिक से अधिक ऐन्द्रिय सुखों का उपभोग करूं। उन में यदि कोई बाधक बने तो उसको विनष्ट कर दूँ। ऐसा वह कर पाए या नहीं, यह बात भिन्न है पर उसकी आन्तरिक मलिन वासनाएं वैसा व्यवहार करने को बाध्य करती हैं। उस व्यवहार में अन्य की दृष्टि में वह भला भी रहना चाहता है पर भीतर में भलाई की भावना के स्थान पर दूषित भावना कार्यकारी होती है। अतएव उसकी जीवन वृत्तियां विषमता से अनुप्राणित बन जाती हैं। वह विविध अनर्थोत्पादक अहितकर प्रवृत्तियां करने में संकोच नहीं पाता। क्लेश कंकाश उसके जीवन के चारों तरफ घेरा डाल देते हैं। मन में अहर्निश बुरे विचारों का वह ताना-बाना बुनता रहता है। वाणी पर भी वह नियंत्रण नहीं कर पाता। शारीरिक प्रवृत्ति प्रायः मन का अनुसरण करती है जिससे आश्रवजनित कर्मों के साथ-साथ मानसिक रोग का प्रादुर्भाव न्यूनाधिक रूप में होता रहता है।

वही रोग मानसिक भूमिका से फैलता हुआ शारीरिक स्थान को ग्रहण कर लेता है। ऐसे रोगों का निवारण एलोपैथिक आदि उपचारों से बन नहीं पाता। बल्कि आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति क्षत-विक्षत हो जाता है। क्योंकि एलोपैथिक आदि चिकित्सक शारीरिक चिह्नों के आधार पर उपचार करते हैं और निदान सही नहीं होने पर भी विषैली औषधियों का प्रयोग उन पर करते रहते हैं जिससे शरीर आदि की पोषक कोशिकाएं भी विनष्ट होती रहती हैं और शरीर विभिन्न प्रकार के विषों से युक्त बन जाता है जो एक दृष्टि से आयु के लिए उपक्रम है। उससे आयुष्य का अपवर्तन भी हो सकता है। जो जितनी आयु लेकर आया है उतनी आयु को कुछेक वर्षों में ही भोग कर इस जीवनलीला को समाप्त कर परलोकगामी हो जाता है। इस प्रकार विषमताजनित प्रवृत्तियों में प्रायः संसार के अधिकांश प्राणी प्रभावित हैं जिनसे आध्यात्मिक अवनति के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक आदि क्षतियाँ बनती हैं और अर्थ की विपन्नता यथासंभव बनती ही जाती है।

जीवन में एकरूपता नहीं रहने से छल, कपट, निर्दयता आदि प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप इस लोक के साथ परलोक भी अंधकारमय वन जाता है। ऐसे

व्यक्ति के जीवन में साधुचर्या तो दूर रही, मानवीयचर्या भी भव्य तरीके से नहीं बन पाती है।

साधुचर्या समदृष्टिपूर्वक प्रवृत्त होती है। साधु की प्रत्येक क्रिया में समता रस का भाव प्रवाह रूप में प्रवाहित होता है। प्रत्येक आत्मा को स्वयं के तुल्य समझने के साथ-साथ तदनुकूल व्यवहार का प्रसंग आता है। जो बात तटस्थ भाव से अपने लिए हितकर मानता है वही बात अन्य के लिए वह सोचता है। स्वयं निर्भय रहता हुआ अन्य सभी प्राणियों को निर्भयता देता है। स्वयं में कोई निर्भय एवं निष्कंप अवस्था तभी प्राप्त कर पाता है जब वह योग और कर्म से अन्य को कंपित एवं सम्भ्रान्त नहीं करता है। अन्य की हिंसा को स्वयं की हिंसा मानता है, अन्य की सुरक्षा को अपनी सुरक्षा समझता है, अन्य के सुख की भावना को अपने सुख की सर्जना समझता है। इसीलिए उसके चरण स्व-पर कल्याणार्थ उठते हैं। उसके हाथ स्व-पर की तुष्टि के लिए होते हैं। उसकी वाणी सर्वत्र मंगलकारी भावना से प्रवाहित होती है। उसके अध्यवसाय सदा पवित्र उर्मियों से आप्लावित रहते हैं।

परिणामस्वरूप चलते समय उसकी दृष्टि युग प्रमाण (३१/२ हाथ) भू-भाग को अवलोकन करने में उपयोगरत रहती है, वाणी सभी के हृदय को प्रमुदित करने वाली होती है। आजीविका हेतु होने वाली उसकी प्रवृत्ति छोटे-मोटे प्राणियों को अभय देती हुई दृष्टिगत होती है। किसी भी वस्तु का ग्रहण व विसर्जन अन्तरावलोकन के साथ उपयोगपूर्वक होता है। सार्थक पदार्थों को व्यर्थ में विनष्ट नहीं होने देता है और निस्सार पदार्थों का विसर्जन भी अहिंसा देवी की साक्षी में करता है। मानसिक भूमिका सर्व द्रव्य, काल, भावादि परिधि को लांघ कर असीम विराट् भावनाओं से समरस होती हुई विश्व कल्याणकारी होती है। उसकी अहिंसक भूमिका पर छोटे व बड़े किसी भी प्राणी को विनष्ट करने की भावना तो दूर रही, वह उसे अपने लिए विषवृक्ष समझता है। उसकी चेतना इतनी सजग रहती है कि इधर-उधर के वायुमण्डल से प्रविष्ट होने वाले कुविचारों की गंध को किंचिदपि अवकाश नहीं मिलता बल्कि सन्निष्ट एवं सद्विचारों से हृदय लबालब भरा रहता है। वही अमृत तुल्य विचार वाणी के माध्यम से प्राणीमात्र को संतृप्त करते हैं। जिसकी जिह्वा भौतिक रस की अपेक्षा आध्यात्मिक रस का पान करने के लिए तत्पर रहती है, उसकी त्वचा अनुकूल एवं प्रतिकूल संस्पर्शों में भी समता की अनुभूति करने लगती है। कर्णेन्द्रिय निन्दा-प्रशंसा आदि शब्दों को निर्लिप्त भाव से श्रवण करती है। जिसके चरण चपलता से रहित उपयोगपूर्वक गतिशील रहते हैं क्योंकि अन्य को कष्ट होने पर उसका स्वयं का हृदय दहल उठता है।

किंबहुना शरीर के प्रत्येक अणु-अणु से प्रशान्त रस का निर्झर बहता रहता है। जिसका मस्तिष्क समता भाव से परिपूर्ण होता हुआ अपनी समुचित शारीरिक संचर्या को नियंत्रित करता रहता है। एक क्षण के लिए भी किसी भी अवयव को विषमता की ओर नहीं मुड़ने देता। इस प्रकार की अवधानता रखते हुए योग साधना की पृष्ठभूमि के सहारे सत्-चित्-आनन्दघन निष्कलंक निरावरण शक्ति केन्द्र अलौकिक प्रकाश पुन्ज चैतन्य देव के स्वरूप पर आए/छाये पर-पदार्थजन्य समग्र आवरणों को नष्ट करने पर ही स्वयं की चरम सीमा को छूने रूप परम-समाधि संप्राप्त होती है। यदि कदाचित् उस जीवन से उतनी साधना न कर सके फिर भी जिस जीवन को निरोग, निष्पाप, पवित्रता के क्षणों में जीता है, सद् विचारों से संभव समरस को प्रत्येक अणु में प्रवाहित करने वाला स्वयं निर्विकार एवं मालिन्य से रहित रहता है वह अपने अनुरूप शरीर को चलाने में भी समर्थ बन जाता है।

मनोविज्ञान के धरातल पर इस विषय को संतुलित किया जाय तो ज्ञात होगा कि आज तक जितनी भी मनोविज्ञान की भूमिका विकसित हुई है उसको भी उपर्युक्त अनुभूतिपरक विषयक संशोधन, परामर्श, विमर्श दे सकता है। क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान का आधार वृतक वृत्तान्त होता है अर्थात् भूतकालीन विषय है। जबकि आध्यात्मिक पृष्ठभूमिका त्रिकालिक है, जो वर्तमान तथा भविष्य के जीवन सम्बन्धी तथ्यों को उजागर करने वाली बनती है। अर्थात् आदर्श की पवित्र वेला में यथार्थ की पवित्र भूमिका का दिव्य प्रतीक बनती है।

उपर्युक्त पद्धति से प्रभु महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधुचर्या का संवहन करने वाला साधक शारीरिक, आध्यात्मिक, यौगिक एवं वैज्ञानिक-समग्र भूमिकाओं को भव्य तरीके से संवहन करता हुआ जीवन के चरम उत्कर्ष तक पहुंचने का प्रावधान प्राप्त कर लेता है। आवश्यकता है प्रतिपल-प्रतिक्षण होने वाले कार्य में उपयोग अनवरत चलता रहे।

सर्वप्रथम वन्दन सूत्र की प्रक्रिया जब उपयोग सहित विधिवत् बनती है तब शारीरिक अवयवों का समीचीन तरीके से व्यवहार होता है। जैसे जब वन्दन करने के लिए सीधे खड़े होकर करबद्ध हो, करों को भृकुटी के सीध में रखते हुए आवर्तन करता है तब उसके सीने एवं हस्त से बंधी छोटी-बड़ी नसों का, मुख्यतया यौगिक प्रक्रियाओं का अनुसंधान बनता है। आवर्तन के पश्चात् दोनों घुटने एवं दोनों हाथ तथा मस्तिष्क जमीन पर लग जाने पर सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों वं मांसपेशियों की प्रक्रियाएं सधती हैं तथा शरीर में एक नव स्फूर्ति जाग्रत् होती है।

इस प्रकार कई बार वन्दन होने से आध्यात्मिक साधना के साथ रक्त संचार की प्रक्रियाएं बिना रुकावट सर्वत्र होने लगती हैं जिससे रक्त संशोधन आदि

शुद्धि का अनायास प्रसंग बनता है जो कि यौगिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही एव प्रक्रिया है जिससे योग साधना में भी संबल मिलता है।

जहां तक ध्यान का प्रश्न है, उसमें भी मन की वृत्ति को व्यवस्थित करने का प्रसंग है। उसे व्यवस्थित बनाने में इस यौगिक प्रक्रिया के साथ उपयोग का संलग्न रहना नितान्त आवश्यक बन जाता है। जिससे मन की एकाग्रता के साथ उपयोग का नियमित सिलसिला बन जाता है। फिर उपयोग से आंतरिक वृत्तियों का समीक्षण करना सहज हो जाता है। वही समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया कहलाती है। इसी प्रकार साधु जीवन की दैनिक प्रक्रियाओं के साथ उपर्युक्त रीति से सम्बन्ध जोड़ने पर समीक्षण ध्यान सहज रूप से ही प्रबल बनने लगता है। इसे सहजिक योग की पद्धति कह सकते हैं जिसमें किसी प्रकार की कोई अनिष्ट अवस्था नहीं बन सकती। ऐसे तो हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग का उल्लेख न्यूनाधिक रूप में प्रचलित है, पर हठयोग आदि की प्रक्रियाएं शारीरिक अवयवों के साथ प्राणायाम आदि से सम्बन्धित हैं। उन प्रक्रियाओं में भी कुछ प्रक्रियाएं व्यवस्थित न बनने पर कई तरह की आपत्तियां आ सकती हैं। योग्य निर्देशक के साथ उन आपत्तियों से कदाचित बचा भी जा सकता है। फिर भी उनसे प्रधानतया शारीरिक अवयवों की एवं सूक्ष्म प्राण संचालन आदि की प्रक्रियाएं ही सध सकती हैं किन्तु जीवन के सर्वांगीण विकास का प्रावधान प्रायः नहीं बन पाता। क्योंकि शक्ति का संक्षय-विनिमय इन प्रक्रियाओं को साधने में ही प्रायः समाप्त हो जाता है। नवीन ऊर्जा का स्रोत जिस मात्रा में जितना उद्घाटित होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता।

एतदर्थ साधना में समग्र समय लगाने पर भी सर्वांगीण विकास प्रसंग प्रायः नहीं बन पाता है। क्योंकि समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया का कोई प्रावधान विधिवत् लक्ष्य के साथ उन हठयोगादि में नहीं है। इससे चरम सिद्धि नहीं हो पाती। किन्तु समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया में लक्ष्य सम्यक्तया सम्मुख होने से समग्र जीवन व्यवस्थित बनता है। साथ ही आवश्यकतानुसार राजयोग आदि की कई प्रक्रियाएं सहजिक योग में समाविष्ट हो जाती हैं।

इसलिए प्रारम्भ से ही सहजिक योग साधना के साथ समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर यात्रा का कार्य प्रारम्भ किया जाय तो साधक स्वयं की समग्र वृत्तियों का संशोधन-परिमार्जन करने के साथ-साथ सहज में भौतिक एवं आध्यात्मिक ऊर्जाओं का अखूट भण्डार भी प्राप्त कर सकता है। जिससे कि अनिर्वचनीय शक्ति का नियंत्रण करता हुआ विश्वनियंता की अवस्था को भी लांघ कर चिन्मय परम समतारस की पराकाष्ठा की अनुपमेय आनन्दानुभूति को सदा-सर्वदा के लिए उपलब्ध कर सकता है।

इस उपलब्धि के अन्तर्गत विश्व में प्रचलित जितनी भी योग-जनित उपलब्धियां हैं, उन सव का समावेश भव्य तरीके से हो जाता है। अतः साधक को वर्तमान में उपलब्ध स्वकीय शक्ति को वृद्धिंगत करनी हो तो समीक्षण ध्यान को मद्देनजर रख कर प्रभु महावीर द्वारा प्रवेचित सहजिक योग का अनुसरण करना योग्य है।

प्रश्न : साधु के स्थान पर रात्रि को बहनें प्रवेश कर सकती हैं क्या ? अथवा स्त्रीयुक्त मकान में साधु रह सकते हैं क्या ?

उत्तर : श्रमणवर्ग पांच महाव्रतों को अंगीकार करके उनकी परिपूर्ण रूप से आराधना करता है। उन महाव्रतों की सुरक्षा के लिए शास्त्रों में विविध प्रकार के नियमों व उपनियमों का संविधान किया गया है। पांच महाव्रतों में चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य का है। ब्रह्मचर्य साधना का मूल हृदय है। इसकी सुरक्षा साधना की सुरक्षा है। अतः इस महाव्रत की सुरक्षा के लिए विविध नियमों व उपनियमों का संविधान शास्त्रों में है। उन विधानों में साधु के निवास स्थान सम्बन्धी विधान इस प्रकार है :-

जं विवित्त मणाइण्णं, रहियं इत्थि जणेण य ।

बम्भ चेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ।।

मूलार्थ : जो स्थान पुरुष-स्त्री तथा पशु-स्त्री तथा नपुंसक के अभाव वाला हो एवं इनके आवागमन से रहित हो, और स्त्रीजन से रहित हो, उस स्थान को साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सेवन करे।

टीका : इस गाथा में साधु को ऐसे विविक्त स्थान में निवास करने का आदेश है जहां पर पुरुष-स्त्री, पशु-स्त्री और नपुंसक का निवास न हो तथा आकीर्णता से रहित अर्थात् जहां स्त्री आदि का पुनः-पुनः एवं अकाल तथा रात्रि में आवागमन न हो, ऐसे एकान्त उपाश्रय आदि में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करे। यहां पर 'आलय' शब्द सामान्य बस्ती का बोधक है। अतः कोई भी स्थान हो, परन्तु उपर्युक्त स्त्री आदि के दोषों से रहित एकान्त होना चाहिए, तब ही साधु समाहित चित्त से वहां रह सकता है। अन्यथा सूत्र में वर्णित शंका और संयम भेद आदि दोषों का होना संभावित है। यह टीका का तात्पर्य है।

इस गाथा में "आलय" शब्द स्थान एवं वसती का वाचक है। "निसेवए"। स्थान कैसा होना चाहिए ? निवास स्थान के लिए शास्त्रकारों ने तीन विशेषण दिये हैं यथा :-

पहला विशेषण है- "विवित्तं" अर्थात् जो स्थान मनुष्य जाति एवं पशु जाति की स्त्री एवं नपुंसक- जो तीनों के काम क्रीड़ा के योग्य वन सकते हैं, ऐसे निवास स्थान पर साधु न रहे। अथवा जहां पर साधु का निवास हो, वहां पर ऐसे व्यक्ति न रहें।

शिष्य पूछता है कि ऐसे व्यक्ति साधु के निवास स्थान पर निवास तो नहीं करते हैं, लेकिन मनुष्य-स्त्री किसी वस्तु को मकान में रखने या मकान में से निकालने के लिए अकाल (दिवस के अवसान एवं रात्रि के अवसान काल) में आवागमन करें तो क्या आपत्ति है ?

इसके उत्तर में दूसरा विशेषण दिया है- "अनाकीर्णम्"। उसका अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि जिसमें स्त्री आदि का पुनः-पुनः अकाल में आवागमन न हो, इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि में ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करें।

पुनः प्रश्न किया गया है कि वस्तु आदि को ले जाने की दृष्टि से तो स्त्री आवागमन न करे पर जिस प्रकार दिन में व्याख्यान आदि श्रवण किया जाता है, उसी प्रकार रात्रि के समय में भी व्याख्यान श्रवण एवं धर्म-ध्यान के लिये साधु के निवास स्थान की सीमा में स्त्री जाति भी अगर व्याख्यान श्रवण व धर्म-ध्यान करे तो क्या हरकत है ?

इसके उत्तर में भी इसी मूल गाथा में "रहियं इत्थि जणेण" स्त्रीजन से रहित- यह तीसरा विशेषण दिया है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के १६वें अध्ययन की प्रथम गाथा में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जहां एक विशेषण में काम चल सकता था, वहां तीन विशेषण दिये गये हैं। इन तीनों विशेषणों की सार्थकता तभी हो सकती है जब सूर्यास्त के बाद एवं सूर्योदय के पहले स्त्री जाति का साधु के निवास-स्थान में प्रवेश न हो।

ऐसे निषिद्ध समय में स्त्री जाति का ब्रह्मचारी साधु के मकान की सीमा में प्रवेश होने पर यदि साधु उसका निषेध नहीं करता है और अनुमोदन करता है तो निशीथ सूत्र में साधु को चातुर्मासिक दण्ड बताया है। वह निशीथ सूत्र का पाठ निम्न प्रकार है :-

सूत्रम्:- जे भिक्खु राओ वा वियाले इत्थि मज्झगए।
इत्थिं संसत्ते, इत्थि परिवुडे अपरिमाण याए।।
कहं कहइ कहेंतं वा साइज्जइ।।

राओ वाः- रात्रौ वा, वियाले वा- विकाले वा, तत्र विकालः दिवसावसाने रात्रि प्रागभावे। रात्र्यवसाने- दिवस प्रागभवे वर्तते।

भाष्यम् : राओ य वियाले वा, इत्थि मज्झ गओ मुणी।
पमाण मइरेगेण, कहाओ दोस मा वहे ।।१।।

ब्रह्मचारी संत वर्ग के निवास स्थान पर अकाल - दिवस के अवसान एवं रात्रि के अवसान काल में तथा रात्रि के समय स्त्री जाति के लिए आना वर्जनीय है। अतः अकाल और रात्रि के समय में स्त्री समुदाय के मध्य तथा स्त्री से संसक्त एवं परिवृत्त न रहे। ऐसे प्रसंग पर अपरिमित वार्तालाप भी न करे।

परिमित वार्तालाप का तात्पर्य कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरों से है जैसे - जिस मकान में मुनिराज विराज रहे हैं, उस मकान के बाहर सूर्यास्त के बाद एवं सूर्यास्त के पहले यदि कोई बहिन मकान की सीमा के बाहर से पूछती है कि १. मकान में कौन है ? उस समय अगर कोई भाई न हो तो साधु को प्रत्युत्तर देना आवश्यक है। अतः साधु उत्तर देता है कि हम साधु हैं। मकान में रह रहे हैं। स्त्री यदि पुनः प्रश्न करे कि २. कहां से पधारे हैं ? तो साधु जवाब दे सकता है कि अमुक गांव से आये हैं। स्त्री पुनः प्रश्न करे कि ३. आप किसकी आज्ञा से विचरण करते हुये यहां पर विराजे रहे हैं ? एवं ४. कब तक विराजेंगे ? तो साधु पुनः जवाब दे सकता है कि हम अमुक आचार्यश्री के आज्ञानुवर्ती हैं एवं सम्भवतः हम अमुक समय तक यहां ठहर सकते हैं। फिर प्रश्न करे कि ५. व्याख्यान देंगे? तो उत्तर दिया जा सकता है कि सूर्योदय के बाद व्याख्यान के समय में यथावसर देने की भावना है, इत्यादि।

इस प्रकार यदि प्रश्नोत्तर का कोई प्रसंग उपस्थित हो तो साधु द्वारा अधिक से अधिक पांच प्रश्नों का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है। यह परिमित कथन है। छठा प्रश्न पूछने पर अपरिमित कथन की श्रेणी में माना गया है। छट्ठे प्रश्न का उत्तर देना, दोष सेवन करना है। अर्थात् आज्ञाभंगादि रूप दूषण का सेवन करना माना गया है। यथा-

"एक-द्वि-त्रि-चतुःपंच प्रश्नोत्तर रूपमति कुम्पषष्ठादि प्रश्नोत्तर रूपां कथां कथयति "कहाओ" कथात् एतादृश कथा करणतः दोषं आज्ञा-भंगादि रूपं दूषणं आपद्येत् प्राप्नुयात्"।

जब छट्ठे प्रश्न का उत्तर देना भी आज्ञा का उल्लंघन आदि दोष का सेवन माना गया है तो प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर व्याख्यान आदि कथाएं करना नितान्त अपरिमित एवं दोषपूर्ण है। अतः वर्जनीय है।

अपरिमित कथा करने से उन स्त्रियों के माता-पिता-पुत्रादि, स्वजन-सम्बन्धियों के मन में शंका उत्पन्न हो सकती है और वे समझ सकते हैं कि ये साधु निर्लज्ज हैं, अकाल में तथा रात्रि में स्त्रियों से वार्तालाप कर रहे हैं। इसलिए लम्पट भी दिखते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो रात्रि के समय स्त्रियों से विना विचारे चिरकाल तक कैसे वातचीत करते ? इस कारण वे साधु के प्रति अविश्वासी भी बन सकते हैं एवं कुपित होकर साधु को ताड़न भी कर सकते हैं।

यथा - आवेश में आकर राजपुरुषों द्वारा साधुओं को पकड़वाने की भी चेष्टा कर सकते हैं और यह प्रसंग संयम विराधना एवं धर्म की अवहेलना का कारण भी बन सकता है। यथा-

"तेन संयम विराधना, आत्म विराधना ।

धर्मस्य अवहेलना च भवितुमर्हति ।।"

इस प्रकार बहुत-से दोषों के प्रसंग से बचने के लिए साधु को रात्रि और विकाल में स्वयं अपरिमित कथा नहीं करनी चाहिये। यदि कोई साधु ऐसा करता है तो उसे इसका अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये। यह भाष्य की गाथा का तात्पर्य है। ऐसे दोषों का सेवन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त स्थान सेवन करने वाला माना गया है और उसकी शुद्धि के लिए "चाउम्मासियं परिहार द्वाण" चातर्मासिक प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त शास्त्र के आशय को न मानकर कुतर्क करे कि स्त्रियां जैसे दिन में आती हैं वैसे रात्रि में भी आती हैं तो क्या हरकत ?

इसका सहज किन्तु तर्कसंगत उत्तर है कि जिस प्रकार साधु के स्थान पर सूर्यास्त के बाद एवं सूर्योदय के पहले स्त्रियों का धर्म-श्रवण आदि के लाभ के लिए आना उपयुक्त एवं शास्त्रसम्मत माना जाय तो ठीक उसी तरह साध्वियों के लिए भी सूर्योदय के पहले एवं सूर्यास्त के बाद धर्म-श्रवण आदि लाभार्थ आना स्वीकार किया जाना चाहिये। धर्मलाभ तो महिलाओं की तरह साध्वियों के लिए भी आवश्यक एवं लाभकारी है। और जब संसार अवस्था की स्त्री जाति, जिसके ब्रह्मचर्य की अधिकतर मर्यादा नहीं है, उसके अकाल एवं रात्रि में आने पर कोई खतरा पैदा नहीं हो सकता, तो साध्वियां तो पूर्ण ब्रह्मचारिणी एवं पंच महाव्रतधारिणी हैं, उनके अकाल एवं रात्रि आवागमन के खतरे की सम्भावना क्योंकर होगी ? आदि। इस विषय में शास्त्रीय दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र के १६वें अध्ययन की गाथा का प्रमाण ऊपर अर्थ सहित दिया जा चुका है। यदि कोई इस निषिद्ध प्रवृत्ति का उल्लंघन करता है, तो निशीथ सूत्र में उल्लंघन का चौमासी प्रायश्चित्त बतलाया है। उत्तराध्ययन के अध्याय ३२ की गाथा १३ में कहा है कि-

जहा विराला वसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था ।

एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो ।।

मूलार्थः- जैसे बिल्लियों के रहने के स्थान में चूहों का रहना प्रशस्त-योग्य नहीं है। उसी प्रकार स्त्रियों के समीप ब्रह्मचारी का निवास करना उचित नहीं है।

टीका :- बिल्ला - मार्जार के समीप मूषकों (चूहों) के रहने से उनको हानि पहुंचने की संभावना रहती है, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती (निवास स्थान) में रहने से ब्रह्मचारी को हानि पहुंचने की सम्भावना रहती है। इसीलिए उनका वहां रहना उचित नहीं। स्त्रियों के साथ परस्पर के सम्भाषण और मिलाप में उनके ब्रह्मचर्य में दोप लगने की हर समय शंका बनी रहती है तथा अल्पसत्त्व वाले जीव के पतित होने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा में सावधान रहने वाला साधु इनके संसर्ग में आने का कभी भी साहस न करे। यहां पर "आवसह असवसत्थ" शब्द आलय व वसती के वाचक हैं।

जिस प्रकार बिल्ली के समीप चूहों का रहना हितकर नहीं, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप निवास ब्रह्मचारी के लिये दोषों को उत्पन्न करने वाला है। यह भाव उपर्युक्त गाथा में आये हुए प्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है।

विविक्त स्थान में रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड़ जाय तो उस समय भी उसको देखने की मन में इच्छा न करनी चाहिये।

हत्थ पाय पडिच्छिन्नं, कण्ण नास विगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, बम्भयारी विवज्जए ।।

दशवै. अध्य.८, गाथा ५६

पदान्वय : हत्थ पाय पिडिच्छिनं - जिस स्त्री के हाथ-पैर कट गये हों और, कण्ण नास विगप्पियं - कान-नाक कटी हुई हो अथवा विकृत हो गई हो, अवि वाससयं - जो सौ वर्ष की आयु वाली पूर्ण वृद्धा एवं जर्जरित शरीर वाली हो गई हो, नारिं - ऐसी स्त्रियों के संसर्ग को भी, बंभचारी - ब्रह्मचारी साधु, विवज्जए - त्याग दे अर्थात् स्त्रियों का संसर्ग कदापि न करे।

जब ऐसी वृद्धा एवं कुरूपा नारी का सम्पर्क भी शास्त्रकारों ने निषिद्ध किया है तो फिर अन्य नारियों का विकाल और रात्रि के समय तो नितान्त निषेध है ही ।

इसलिए प्रत्येक साधक को अपने ठहरने योग्य स्थान का सम्यग् निरीक्षण करना चाहिये।

साधु-साध्वी जिस उपाश्रय - स्थान में ठहरें उसके स्वामी या व्यवस्थापक का नाम-गोत्र जान लें और उसके यहां से आहारादि ग्रहण न करें। स्थान की अनुमति देने वाला गृहस्थ शय्यांतर है और उसके यहां का आहार लेना पिण्डैषणा में वर्जनीय बताया है।

साधु खुले स्थान में और विना किंवाड़ वाले स्थान में ठहर सकता है परन्तु साध्वियां नहीं ठहर सकतीं। इस प्रकार शय्या - अर्थात् उपाश्रय - स्थान सम्बन्धी नियमों का पालन करना शय्यैषणा समिति है।

साधु शेषकाल में एक स्थान पर अधिक से अधिक उन्तीस दिन तक रह सकता है और साध्वियां अट्ठावन दिन तक। इस कल्प को पूरा कर लेने पर साधु का दो मास से पूर्व फिर उस स्थान पर बिना कारण आना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार साध्वियों ने दो मास का कल्प पूरा कर लिया है तो उससे दुगुने समय तक अन्यत्र विचरण किये बिना उस स्थान पर पुनः बिना कारण आना नहीं कल्पता। इस प्रकार शय्यैषणा के विभिन्न नियम प्रतिपादित हैं। उनका पालन करते हुए मुनि को निर्दोष स्थान की गवेषणा करनी चाहिए और गृहाधिपति की आज्ञा से यथाकल्प यथाविधि वहां ठहरना चाहिए।

प्रश्न : आजकल साधु मुनिराज साहित्य प्रकाशन, जयन्ती मनाना, समारोह मनाना आदि में लगे हुए हैं। इससे पांच महाव्रतों में कोई दोष आता है या नहीं ?

उत्तर : जो साधु मुनिराज अपनी साधु जीवन की मर्यादाओं की सीमा में रहते हुए किसी विशिष्ट पुरुष की जन्मतिथि आदि के निमित्त से सामायिक, पौषधव्रत, प्रत्याख्यान आदि धर्म-ध्यान करने की प्रेरणा देते हैं और सम्बन्धित विशिष्ट पुरुष के सद्गुणों का प्रतिपादन कर स्व-पर के उत्थान की प्रेरणा ग्रहण कराते हैं, वे अपनी साधु मर्यादा में दोष लगाने की स्थिति में नहीं रहते बल्कि एक दृष्टि से सद्गुणों की वृद्धि का निमित्त उपस्थित करते हैं।

इसके विपरीत जो साधु आरम्भ-समारम्भ का उपदेश देते हैं। बैंड-बाजा आदि के साथ जुलूस को चाहते हैं तथा एतदर्थ प्रेरणा देते हैं एवं यत्किंचित रूप में भी सावद्य प्रवृत्तियों में भाग लेकर जयन्ती आदि का प्रसंग उपस्थित करते हैं या करवाते हैं तो इस अनुपात से उनके अहिंसादि महाव्रत में दोष लगना सम्भावित है।

साहित्य प्रकाशन का जहां तक प्रश्न है, साधु साहित्य प्रकाशन नहीं करवा सकता। श्रावक वर्ग अपनी सीमा के अन्तर्गत साहित्य प्रकाशन आदि का कार्य करता है। यदि उसे शास्त्रीय ज्ञान का पूरा अभ्यास नहीं है, और शास्त्र विरुद्ध कोई साहित्य उसके द्वारा प्रकाशित न हो जाये, इसके लिए कदाचित् वह आगम मर्मज्ञ सन्त-सती वर्ग से उसका अवलोकन कर आगम से विपरीत विषय का संशोधन करवाते हैं तो वह साहित्य प्रकाशन नहीं कहला सकता है, और तज्जनित दोषों से लिप्त भी नहीं हो सकता।

जैसे जिज्ञासु व्यक्ति जिज्ञासा का समाधान पाने के लिए सन्त वर्ग को प्रश्न पूछता है और वे उत्तर देते हैं या लिखते हैं उस वक्त उत्तर लेने या लिखने वाला पुनः उन उत्तरों को उत्तरदाता मुनिराज से अवलोकन करवाता है तो आगमिक त्रुटि नहीं रहने का वे अवलोकन करते हैं, इससे मुनिराज दोष के भागी नहीं हो सकते।

यदि कदाचित् उत्तर पाने वाला व्यक्ति अपने स्वधर्मी भाइयों व अन्यों की ज्ञान वृद्धि हेतु उन प्रश्नोत्तरों को प्रकाशित करता है तो यह कार्य प्रकाशित करने वाले व्यक्ति पर निर्भर है। कदाचित् वह उत्तर लेने वाला व्यक्ति उस प्रकाशित पुस्तक में ऐसा उल्लेख भी कर देता है कि अमुक साधु ने मुझे उत्तर दिया पर मुनिराज अपनी सीमाओं से आगे का अनुमोदन नहीं करते हैं तो वे निर्दोष ही समझे जाते हैं। वैसे ही उपयुक्त विधि के साथ कोई साहित्य प्रकाशन होता है तो यह सम्बन्ध गृहस्थावस्था के व्यक्तियों से सम्बन्धित रहता है।

इस उत्तर में किसी का यह प्रश्न उपस्थित होना सम्भावित है कि साधु ने अपनी मर्यादानुसार ही कार्य किया पर साधुजी को यह मालूम है कि अमुक व्यक्ति इसको प्रकाशित करने वाला है या करेगा, वैसी स्थिति में साधुजी ने निषेध नहीं किया तो वे दोष के भागी बन सकते हैं या नहीं ? इस पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन अपेक्षित है कि जिस कार्य में शुभ भावना के साथ जन-कल्याण का प्रसंग हो और आरम्भ-समारम्भ भी उसके साथ हो तो वैसी स्थिति में साधु को न निषेध करना और न हाँ करना, बल्कि मध्यस्थ भाव से रहना ही उपयुक्त है। क्योंकि यदि वह हां करता है तो उससे होने वाले आरम्भ-समारम्भ के पाप से सम्बन्धित होता है। यदि निषेध करता है तो जन-कल्याण में बाधक बनता है। जैसे केशी श्रमण के बोध से प्रदेशी राजा आस्तिक बना और मनि के समीप से जाने की तैयारी करने लगा तब केशी श्रमण ने कहा कि "रमणिक होकर अरमणिक मत बनना"। ऐसा सुनकर राजा प्रदेशी ने कहा कि भगवन् अब मैं रमणिक होकर अरमणिक नहीं होऊंगा। इतने दिन राज्य की आमदनी के तीन हिस्से करके व्यवस्था करता। पर अब उसके चार हिस्से करूंगा और चतुर्थ हिस्से से दान, शालादि बनाकर दीन, दुःखी, अनाथ आदि की भलाई करता हुआ व्यवस्था रखूंगा। इस आशय के भाव केशी श्रमण ने श्रवण किये परन्तु हाँ या ना कुछ न कहते हुए मध्यस्थ भाव धारण कर लिया। यद्यपि वे जानते थे कि यह राज्य के चतुर्थ भाग से नया आरम्भ-समारम्भ चालू करेगा जबकि नास्तिकावस्था में यह कार्य नहीं करता था। तथापि वे यह भी जानते थे कि इसका मैं अनुमोदन करता हूं तो आरम्भ-समारम्भ से सम्बन्धित होता हूं और निषेध करता हूं तो दीन, दुःखी आदि प्राणियों के अन्तराय आदि का भागी बनता हूं। अतः मौनस्थ रहे। 'सूत्र कृतांग' सूत्र में बतलाया है-

जेय दाणं पसंसंति वहमिच्छति पाणिणो ।
जे यं णं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करेंत्ति ते ।।

भावार्थ :- साधक यदि दान की प्रशंसा करता है तो गौण रूप से प्राणियों के वध का अनुमोदन होता है और अगर दान देने का निषेध करता है तो याचक की वृत्ति का छेद अर्थात् अन्तराय आदि को देने वाला होता है।

इसी प्रकार जन कल्याणकारी साहित्य प्रकाशन आदि कार्य में शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर निस्पृह रूप से मौन भाव का अवलम्बन लेकर चलता है तो वह उस प्रवृत्तिजनित दोष से सम्बन्धित नहीं होता है।

हाँ, यदि उपर्युक्त शास्त्रीय मर्यादा से भिन्न तरीके से प्रकाशन के लिए आज्ञा देता है, उसके लिए चन्दा एकत्रित करवाता है, या प्रेरणा देता है, प्रूफ देखता हुआ आरम्भ-समारम्भ आदि सावद्य कार्यों में भाग लेता है तो आरम्भ-जनित दोषों से अपने महाव्रतों को दूषित करता है।

प्रश्न : आजकल सन्त-मुनिराजों के सामने जनता जाती है, जबकि पूर्व में नहीं जाती थी। अतः आजकल परम्परा में परिवर्तन क्यों ?

उत्तर : मुनिराजों के समक्ष आजकल जनता जाती है, पूर्व में नहीं जाती थी- ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है। आगमिक धरातल पर इस विषयक चिन्तन करने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकती है। 'भगवती सूत्र' के दूसरे शतक के उद्देशक पांच में तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन में बतलाया है कि-

"तहारुवाणं थेराणं भगवंताणं नाम गोयस्स विसवणयाए किमत्र पुण अभिगमण वंदण नमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए जाव गहणयाए तं गच्छामोणं देवाणुप्पिया।"

तथारूप स्थविर भगवन्तों के नाम तथा गोत्र श्रवण से जीवों को जब महाफल की प्राप्ति होती है तो फिर उनके समक्ष जाने से, वन्दन करने से, नमस्कार करने से, कुशल समाचार रूप सुख-साता पूछने से, उनकी सेवा करने से, यावत् उनके उपदेश धारण करने से आत्मा का कल्याण हो जावे तो इसमें कौनसी आश्चर्य की बात है ? इसलिए हे देवानुप्रिय! चलो उन स्थविर भगवन्तों के पास चलें। उन्हें वन्दना करें, नमस्कार करें, यावत् उनकी पर्युपासना करें।

कोणिक भगवान महावीर के समवसरण की सूचना पाकर ही अन्न-जल ग्रहण करता था। प्रतिदिन समाचार पाने के लिए कोणिक ने पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी।

जो सम्राट प्रतिदिन समाचारों को पाकर अन्न-जल ग्रहण करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर सकता है वह उनके समीप में जाने के लिए कितना उत्कण्ठित होगा, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कोणिक सम्राट की जब यह स्थिति थी तो साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?

श्रीकृष्ण वासुदेव, श्रेणिकादि सम्राट भी चतुरंगी सेना के साथ भगवान के दर्शनार्थ पहुंचते थे। उसमें हाथी, घोड़े, रथ, पैदल के चक्रमण (गमनागमन) से कितने ही जीवों की हिंसा होती होगी, यह तो श्रेणिक के घोड़े के टाप से मरे मेंढक से अनुमान लगाया जा सकता है।

उदायन महाराज की दीक्षा लेने की तत्परता को जानकर प्रभु महावीर जब वहाँ पधारे तब उदायन ने सारी नगरी को सजाने आदि की प्रक्रियाएँ कीं। उन प्रक्रियाओं से सहज ही ज्ञात हो सकता है कि भगवान के आगमन के प्रसंग पर अन्य क्या-क्या नहीं किया गया होगा ?

दशार्णभद्र एवं इन्द्र के आगमन आदि के प्रसंग की घटनाओं का वर्णन भी शास्त्रों में आता है।

यदि दर्शनार्थ इस प्रकार के आवागमन आदि क्रियाएं वीतराग देव एवं उनके आगम के प्रतिकूल होती तो भगवान महावीर एवं अन्य तीर्थंकर गणधरादि इन उपर्युक्त आवागमन आदि कार्यों को रोकने में सक्षम नहीं होते ?

कोई भी सुज्ञ पुरुष चिन्तन के तटस्थ क्षणों में जान सकता है कि ये सारे प्रसंग क्या सूचित कर रहे हैं और यह परिपाटी कब से व कैसे चली आ रही है ? यह तो वस्तुस्थिति का कथन मात्र दर्शाया गया है। लेकिन जहां तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी किसी को मेरे सामने आने की प्रेरणा नहीं दी। लोग आयें या ना आयें, यह उन्हीं की इच्छा पर निर्भर है। ऐसे प्रसंगों का निषेध जब तीर्थंकर गणधरादि ने भी नहीं किया तो शास्त्रीय मर्यादा के अनुरूप श्रमण पर्याय का पालन करने वाला सन्त वर्ग कैसे निषेध कर सकता है ? वह तो पूर्व महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने वाला है।

अतः गृहस्थ वर्ग के कार्य जो शुभाशुभ से संयुक्त हों, उनमें साधु को केशी श्रमण की भांति तटस्थ भाव रखना योग्य रहता है।

प्रश्न : २२वें तीर्थंकर के साधु औद्देशिक आहार ले सकते हैं ?

उत्तर : भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के साधुओं के अतिरिक्त तीर्थंकर के समय के साधुओं को औद्देशिक आहार ग्रहण करने का निषेध नहीं था अर्थात् औद्देशिक आहार आवश्यकतानुसार ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्न : साधु को दान देने से कर्मों की निर्जरा होती है या पुण्यबंध?

उत्तर : साधु को शुभ भाव से प्रमुदित-आह्लादित होते हुए दान देने से कर्मों की निर्जरा भी होती है और पुण्यबंध भी होता है। सुमुख गाथापति (सुबाहुकुमार का पूर्वभव) ने सुदत्त अणगार को शुभ भाव से प्रमुदित होते हुए दान दिया था। जिसके फलस्वरूप सुख विपाक सूत्र में बतलाया है कि 'संसारे परितीकए, मणुस्साऊए निबद्धे' - अर्थात् दान देने से संसार परित किया। यह कर्मों की निर्जरा का द्योतक पद है तथा मणुस्सा हुए निबद्धे यह पुण्यबन्ध का प्रतीक है। अतः साधु को शुभ भाव से दान देने से दोनों लाभ होते हैं।

प्रश्न : साधु को दान देना दस धर्म में से कौन-से धर्म के अन्तर्गत है ?

उत्तर : ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में बतलाये गये १० धर्मों में से साधु को दान देना सम्यक् पाखंड (व्रत) धर्म के अन्तर्गत है।

प्रश्न : जिस धर्मस्थान पर श्रावक धार्मिक अनुष्ठान करता है उस स्थान में कभी परिस्थितिवश बिजली रातभर जलती हो और व्रतधारी श्रावक मूत्रादि परठने के लिए आवागमन करता हो तो श्रावक को क्या प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर : सामायिक आदि धार्मिक क्रिया में संलग्न श्रावक को सावद्य क्रिया करने एवं करवाने का त्याग होता है। ऐसी स्थिति में बिजली आदि के प्रकाश में वह भूमि परिमार्जन करता हुआ विद्युत आदि के प्रकाश की आकांक्षारहित होकर यदि परठने आदि के लिए गमनागमन करता है तो उस श्रावक को तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त आने का प्रसंग नहीं रहता। उस धार्मिक स्थान में अन्य सन्त-सती वर्ग बिराज रहे हों तो उसमें बिजली आदि कतई नहीं रहनी चाहिए।

प्रश्न : अलमारी में रखे हुए रंग-पेंट संत अपने निमित्त से श्रावक से ताला खुलवाकर स्थानक के लिए रखी हुई वस्तु को कार्य में ले सकते हैं क्या ?

उत्तर : रंग, वार्निश अथवा अन्य कोई वस्तु उत्सर्ग मार्ग में साधु को तालादि खुलवा कर नहीं लेना चाहिये। स्थानक के निमित्त आयी हुई वस्तु जो साधु मर्यादा के अन्तर्गत हो और पुरसान्तर हो गयी हो तो स्थानक के अधिकारी की आज्ञा से ग्रहण की जा सकती है।

प्रश्न : संतों के लिए पाट-पाटले इत्यादि श्रावक द्वारा ठेलों में लाये जाने पर उपयोग में ले सकते हैं क्या ?

उत्तर : संतों के शहर में प्रवेश करने के पश्चात् अथवा पूर्व में कभी भी यदि संतों के निमित्त से पाट-पाटले एक स्थान से अन्य स्थान पर रखे जाते हों तो संतों को उनका उपभोग नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् सन्तों को इसकी जानकारी नहीं हो तो उनको ध्यान दिला देना चाहिए।

प्रश्न : साधु स्थानक या कमरे का झाडू निकालने के लिए कह सकता है क्या ?

उत्तर : सिर्फ साधु के काम में आने वाले स्थान का साधु को स्वयं परिमार्जन रजोहरण से कर लेना चाहिए। बहुलता से श्रावक-श्राविका के काम आने वाले स्थान को साफ रखने का विवेक श्रावक वर्ग के कर्तव्य क्षेत्र में है। इस विषय में श्रावक वर्ग प्रायः सचेष्ट रहता ही है - कदाचित् किसी स्थल पर लापरवाही साधु देखे और उसको ज्ञात हो कि इसमें जन्तुओं की उत्पत्ति सम्भावित

है तो उन जन्तुओं की उत्पत्ति के पहले ही अपनी मर्यादित भाषा में गृहस्थ को विवेक दिला सकता है।

प्रश्न : स्थानक में प्रतिहारिक रूप से पड़े पातरे काम में लेना शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त है या नहीं ?

उत्तर : गुरु की विशेष आज्ञा के विना साधक को चार पात्र से अधिक रखने का नियम नहीं है, यदि (किसी कारण से टूट जाय, गुम हो जाय, काम में नहीं आवे जैसा हो जाये) आवश्यकता हो तो गृहस्थ की आज्ञा लेकर काम में लिये जा सकते हैं, पर उसे अपनी नेश्राय में ही रखना उचित है जब तक कि वह उपयोग में आ सकता हो। प्रातिहारिक रूप से अल्पकाल के लिए उपयोग में लेकर परठना योग्य नहीं ।

प्रश्न : मृगापुत्र को गौतम स्वामी भगवान् की आज्ञा लेकर (देखने) घर पहुंचे और महारानी के साथ देखने के लिए तलघर के अन्दर गये। उस वक्त उनके साथ और कौन थे ? वर्णन तो ऐसा सुनने में आया कि रानी के साथ गौतम स्वामी गये तो क्या साथ में साक्षी रूप भाई नहीं था ?

उत्तर: साधुचर्या के वर्णन में भगवन् ने वतला दिया कि अकेला साधु अकेली बहिन व साध्वी से बिना भाई की साक्षी से वार्तालाप आदि न करे।

अब ये आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रासंगिक कथन से उसका उल्लेख किया ही जाय। वह साधुचर्या के अनुरूप स्वयं को जान लेना चाहिये। गौतम स्वामी स्वयं संयमी मर्यादाओं में पूर्ण सतर्क थे तथा अतिशय ज्ञानसम्पन्न थे। अतः साथ में भाई साक्षी रूप में हो सकता है – क्योंकि महल में कुबजक दास (सेवक) इतस्ततः घूमते ही रहते थे।

दूसरी बात यह है कि मृगा लोढा को वहुत भूख लगी थी। अतः उसके खाने के लिये बहुत सामान ले जाना होता था जिसको रानी कैसे ले जा सकती है : जबकि रानी को नौकर-चाकर गिलास को भी इधर-उधर नहीं रखने देते। तव भोजन से भरी हुई गाड़ी रानी को ले जाने दें, यह संभव कैसे हो सकता है ? उस गाड़ी को चलाने वाला कोई व्यक्ति रानी के साथ छाया की तरह रहता हुआ सेवा करता हो, उसका साथ में होना संभव है, अतः एकाकी रानी का तो कतई प्रसंग उपस्थित नहीं होता।

जैसे राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री के विदेश गमन के प्रसंग से व्यवहार में यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री विदेश गये हैं। उस कथन में जो राष्ट्रपति के विदेश गमन का कहा गया है तो क्या राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री अकेले विदेश गये ? नहीं, यह संभव नहीं होता। उनके साथ उनका स्टाफ अवश्य होता है पर उन सब का कथन राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री के कथन में अनुगर्भित हो जाता है

वैसे ही महारानी के कथन से उनके सहचर रूप दास-दासी का संग्रह हो जाता है।

प्रश्न : साध्वियों के स्थान पर पुरुष वर्ग पौषध करें और अगर शाम को चार वजे से पानी की झड़ी लग जावे तो वे अपने स्थान कैसे जावें ?

उत्तर : पौषध व्रत में अगर पुरुषों को सती वर्ग के स्थान पर रहने का प्रसंग उपस्थित हो गया हो, और समय की मर्यादा आ गई हो तो श्रावक वर्ग का वहां से अन्यत्र दया पाल लेना योग्य लगता है। वर्षा के कारण छींटे लगने की सम्भावना हो तो उसका प्रायश्चित्त लिया जा सकता है। पर सती वर्ग के स्थान पर उनका रहना कतई उपयुक्त नहीं है। क्योंकि पुरुष वर्ग के रहने पर वह स्थान सती वर्ग के लिए अकल्पनीय हो जाता है। अतएव सती वर्ग के कल्प की मर्यादा को सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।

प्रश्न : साध्वी को भिक्षाचर्या हेतु अथवा शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ आदि के लिए स्थानक से बाहर अकेले क्यों नहीं जाना चाहिये ?

उत्तर : तीर्थंकर देवों का कथन त्रिकालिक होता है। साध्वी को अकेले स्थानक आदि से बाहर जाने का जो निषेध किया गया है उसके पीछे साध्वी जीवन की सुरक्षा का मुख्य हेतु रहा हुआ है। साध्वी - स्त्री पर्याय से होती है। स्त्री पर्याय पर मोह सम्बन्धी उपसर्ग भी अधिक आते हैं। पुरुष शरीर पर बलात्कार नहीं किया जा सकता जब कि स्त्री पर्याय पर उसकी संभावना रहती है। अतः साध्वी के अकेले गृहस्थी के घर भिक्षाचर्या के लिए प्रवेश करने पर उस घर में कभी एकाकी पुरुष के होने से अथवा कामुक पुरुष द्वारा अभद्र व्यवहार किया जा सकता है। वह साध्वी जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकता है तथा जिन-शासन की भी हीलना-निन्दा संभावित है। इसी प्रकार शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ साध्वी का एकाकी गमन भी योग्य नहीं रहता। उसका वृहत्कल्प सूत्र में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है यथाः-

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए
गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।।५.१६।।

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए
बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।।५.१७।।

अतः साध्वी को भिक्षादि के लिए एकाकी स्थानक से बाहर नहीं जाना चाहिए। कदाचित् तीन ही साध्वियां हों और दो का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो तो वैसी

विकट परिस्थिति में वह अकेली साध्वी एक विश्वस्त बहिन के साथ भिक्षादि के लिए स्थानक आदि से बाहर निकल सकती है तथा गृहस्थ के घर में प्रवेश कर सकती है, पर एकाकी नहीं ।

प्रश्न : छोटी दाख अंगूर को उबालकर तैयार की जाती है फिर भी उसे सचित्त क्यों माना जा रहा है ?

उत्तर : छोटी दाख (किशमिश) के संदर्भ में अब तक जो जानकारी प्राप्त हुई उसके अनुसार उबाल कर व बिना उबाले हुए – दोनों प्रकार से तैयार होती है। अतः यह निर्णय कौन करे कि कौनसी दाख किस विधि से तैयार की गयी है ? इसलिए फिलहाल उसका टाला किया जाता है।

प्रश्न : शरवत आदि में गृहस्थ ने बर्फ डाला है, वह बर्फ पिघल गया है, तो शरबत लेना साधु के लिए कल्पनीय क्यों नहीं ?

उत्तर : पिघलने के अन्तर्मुहूर्त बाद साधु के लिए अकल्पनीय नहीं माना जाता।

प्रश्न : डिस्टील वाटर सचित्त है या अचित्त ? वह कैसे ?

उत्तर : डिस्टील वाटर जो वाष्प से तैयार किया जाता है, तैयार होने के बाद उसे यंत्र द्वारा कांच की नली में भरकर पैक किया जाता है और वह इंजेक्शन आदि में मिलाया जाने के काम में आता है। उसमें सचित्त की शंका नहीं है।

प्रश्न : रेफ्रीजरेटर द्वारा ठंडे किये गये पदार्थों आदि के बर्तन की बाहरी सतह पर लगे सूक्ष्म जलकण, जो वातावरण में उपस्थित वाष्प से निष्पन्न होते हैं, वे सचित्त होते हैं या अचित्त ?

उत्तर : वाष्प से तैयार जलकण अचित्त होने संभावित हैं।

प्रश्न : जिस आईसक्रीम के बनाने में दूध अधिक गाढा किया हुआ नहीं है या जिसमें कस्टर्ड पाउडर डाला हुआ नहीं है, उस आईसक्रीम के अन्दर बर्फ की अत्यन्त पतली परत बन जाती है। यदि बर्फ सचित्त है तो वह परत अचित्त कैसे ?

पूर्व में इन्दौर से प्रकाशित 'नई दुनिया' में 'आईसक्रीम में जानवरों की चीखें सुनाई देती हैं' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था। यहां पर भी विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ कि आईसक्रीम में पाउडर जो पड़ता है वह अण्डे से मिश्रित होता है। दूसरी बात – आईसक्रीम में बहुत-सी कम्पनी वाले क्रीम के बदले मटन-टेलो डालते हैं। बहुत-से उसमें दूध का पाउडर मिलाते हैं। हड्डी का पाउडर मिला हुआ रहता है। दूध में मुख्य घटक कैल्सियम और फॉस्फोरस होता है, और हड्डी में भी यही घटक मुख्य होते हैं, तो कल्पनीय कैसे ?

उत्तर : नई दुनिया के लेख में और महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि ऐसा महसूस होता है कि 'मेरे पेट में बकरा बोलता है' आदि संदर्भ उनके लेख की दृष्टि से सही कहे जा सकते हैं। पर अतिशयोक्तिपूर्ण ही कहे जायेंगे। न किसी ने जानवरों की चीखें सुनी हैं न गांधीजी ने पेट के बकरे की आवाज सुनी। जिन जाति के जानवरों के शरीर के किसी भी अंश का किसी प्रकार से उपयोग किया जाता हो, उन जाति के जानवरों के साथ की जाने वाली बर्बरता के समय उनकी आवाजें ही प्रतिध्वनित होती हैं इसलिए ऐसा कहा या लिखा जाता है। आईसक्रीम में प्रश्नगत वस्तुएं पड़ती ही हों – ऐसा अख़बारों के अतिरिक्त यदि कोई प्रामाणिक प्रमाण हो तो उस पर विचार किया जा सकता है। अखबारों में साबूदाना के विषय में भी कुछ बातें सामने आयी थीं किन्तु बाद में उनकी क्या स्थिति रही ? अखबारों की बात सहसा पूर्ण सत्य नहीं कही जा सकती।

प्रश्न : मुल्तानी मिट्टी यदि कुछ वर्ष पुरानी हो, पानी में भीगी हुई हो, उसे एक-दो-तीन दिन हो चुके हों तो वह सचित्त है या अचित्त ? यदि सचित्त हो तो कितने समय तक का सचित्त मानना ?

उत्तर : इस प्रकार की मुल्तानी मिट्टी धारणा से सचित्त मानने में आती है ।

प्रश्न : डालडा (वनस्पति घी) घी का विगय गिना जावे अथवा तेल का, क्योंकि डिब्बे पर तेल लिखा रहता है, व्यवहार में उसको घी कहा जाता है ?

उत्तर : डालडा (वनस्पति घी) के डिब्बे पर यदि तेल लिखा हुआ हो तो उसे घी का विगय नहीं समझना चाहिये।

प्रश्न : बिलौना करती हुई बाई साधु को आहार बहरा सकती है क्या?

उत्तर : बिलौना करती हुई बाई किस अवस्था में है, उसका विवेक गवेषक को रखना अपेक्षित है। बिलौना करती हो तो उसे बन्द करवा कर नहीं लेना चाहिये।

प्रश्न : छोटा-सा कण घुटने के ऊपर से नीचे गिर जाता है तो घर असुसता कर दिया जाता है कारण कि वायुकाय की विराधना होती है। फिर तीन बार ऊठ-बैठ कर वन्दन करने से क्या वायुकाय की विराधना नहीं होती?

उत्तर : घुटने के ऊपर से छोटा-सा कण गिरने पर जो घर असुसता किया जाता है उसके पीछे मुख्यतया गृहस्थ की लापरवाही कारण है। क्योंकि गृहस्थ की लापरवाही से ही सामग्री ऊपर से गिरती है। इसलिए अयतना के कारण घर असुसता किया जाता है किन्तु वन्दना करने में यह बात नहीं है। यदि

अविवेक अथवा अयतना से वन्दना करता है तो उससे भी कर्मों का बंध होता है। पर जो वन्दना दोषों को टाल कर शुद्धभावपूर्वक की जाती है उसमें पापकर्म का वन्ध नहीं होता जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है:-

जयं चरे जयं चिट्ठे जयं भासे जयं सये ।

जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बन्धई ।।

अतः वन्दना यदि यतनापूर्वक की जाती है तो उससे वायुकाय की विराधना सम्भव भी नहीं है। कदाचित् विराधना हो भी जाती है तो उससे पापकर्म का वन्ध नहीं होता तथा शुद्ध भाव से की गई वन्दना से कर्मों की निर्जरा-आत्मशुद्धि होती है।

प्रश्न : 'जैन तत्त्व प्रकाश' में जो बाईस प्रकार के अभक्ष्य बतलाये गये हैं, क्या वे सर्वमान्य हैं ?

उत्तर : 'जैन तत्त्व प्रकाश' में बतलाए गए २२ प्रकार के अभक्ष्य सर्वमान्य एवं आगमसम्मत नहीं हैं। व्यक्ति-विशेष का अभिमत हो सकता है।

'जैन तत्त्व प्रकाश' में निम्न २२ अभक्ष्य बतलाए हैं :-

१. बड़ के फल २. पीपल के फल ३. गूलर के फल ४. कठभूर के फल ५. पाकर के फल ६. मदिरा ७. मांस ८. मद्य ६. मक्खन १०. हिम (बर्फ) ११. विष १२. ओला १३. माटी १४. रात्रि भोजन १५. पंपोट फल १६. अनन्तकाय १७. अथाना (अचार) १८. घोलवडे १६. बैंगन २०. अनजाने फल २१. तुच्छ फल २२. चलित रस।

किन्तु शास्त्रकारों ने उपरोक्त सभी वस्तुओं को अभक्ष्य नहीं बतलाया है। 'दशवैकालिक सूत्र' में साधुओं के अनाचार बतलाते हुए कहा है-

मूलए सिंगबेर य उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।

कंदे मूले य सचित्ते, फले बीए य आमए ।।

अर्थ : सचित्त मूला, अदरख, इक्षुखण्ड, कन्द-व्रजकंद आदि, मूल जड़, आम, नींबू आदि और तिलादि का सेवन न करे अर्थात् अचित्त प्रासुक हो तो ग्रहण कर सकता है।

यदि उपर्युक्त कथनानुसार, अनंतकायिक, बहुवीजा, फल आदि वस्तुएं शास्त्रकारों की दृष्टि में अभक्ष्य होतीं तो साधु को चाहे सचित्त हो या अचित्त, अप्रासुक या प्रासुक, शास्त्रकार स्पष्ट निषेध कर देते। किन्तु निषेध नहीं किया वल्कि उस गाथा से, प्रासुक हो तो साधु ग्रहण कर सकता है, फलित होता है। अतः सिद्ध है कि ये अभक्ष्य नहीं।

दूसरी बात पंपोट फल, अनार, बैंगन, अंजीर आदि को बहुबीज होने से अभक्ष्य कहा जाय तो भिण्डी, नींबू में भी एक से अधिक बीज होते हैं तथा फूल गोभी में त्रस जीवों की प्रायः संभावना बनी रहती है तो उनको भी अभक्ष्य मानना पड़ सकता है। यदि एक बीज में एक जीव होने पर भी उन सब बीजों के समूह को बहुबीजा कह कर अभक्ष्य माना जाय तो एक रोटी भी बहुत सारे गेहूं से बनती है तो वह भी अभक्ष्य हो जायेगी। जिसे पकाने के लिये भी षट्काय के असंख्य जीवों की हिंसा होती है, तब इतनी हिंसा से निष्पन्न पदार्थ को उपरोक्त युक्ति अनुसार भक्ष्य कैसे माना जाएगा ?

पानी की एक बूंद असंख्य जीवों का पिंड है। उसमें लीलन-फूलन की नियमा मानी गयी है। लीलन-फूलन अनन्तकायिक होती है। वैसी स्थिति में पानी भी अभक्ष्य हो जाएगा। वस्तुतः यदि ऐसा माना जाय तो जगत के सभी प्राणी अभक्ष्य खाने वाले होंगे क्योंकि वनस्पति भी एकेन्द्रिय है और अन्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु भी एकेन्द्रिय होने से समान हैं किन्तु इन पदार्थों को शास्त्रों में अभक्ष्य नहीं माना है।

बैंगन की दूषित आकृति से उसको अभक्ष्य माना गया हो तो यह आगमाभिमत नहीं है। आगमकारों ने उन्हें अभक्ष्य नहीं बताया।

अथाना को भविष्य में फूलन, जीवोत्पत्ति की आशंका से अभक्ष्य कहा गया हो तो इस प्रकार से तो रोटी, सब्जी में भी भविष्य में फूलन - जीवोत्पत्ति होने की शंका रह सकती है। अतः उन्हें भी अभक्ष्य मानना चाहिये।

मधु-नवनीत को अभक्ष्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपवाद मार्ग में प्रासुक मधु, नवनीत को साधु भी ले सकता है। अगर मांस के समान ये पदार्थ अभक्ष्य होते तो साधु को हर अवस्था में निषेध कर दिया जाता। शास्त्रकारों ने इनको महाविगय बताया है किन्तु अभक्ष्य नहीं।

अतः मांस-मदिरा व चलित रस पदार्थों के अतिरिक्त ऊपर कथित अन्य वस्तुओं को अभक्ष्य कहना आगमाभिमत प्रतीत नहीं होता। हां, कोई व्यक्ति स्वेच्छा से जितना त्याग करना चाहे, कर सकता है। किन्तु उन्हें अभक्ष्य नहीं कहना चाहिए।

प्रश्न : मूंगफली जमीकंद है या नहीं ?

उत्तर : जमीकंद का अर्थ यदि जमीन में उत्पन्न होना लिया जाय तो उस परिभाषा के अनुसार मूंगफली जमीकंद है। यदि जमीकंद का अर्थ अनन्तकायिक निगोद आदि के रूप में ग्रहण किया जाता हो तो मूंगफली अनन्तकायिक जमीकन्द निगोद नहीं माना जाता।

प्रश्न : आलू का कलाकन्द, गाजर का कलाकन्द आदि जिसके हरी लिलोत्री के नियम होवें, वह कितने दिन के अन्तराल से उपयोग में ले सकता है?

उत्तर : तीन या चार दिवस से उपयोग लिया जा सकता है। अव्यवस्थित रह गया है तो फूलन की सम्भावना होने से हरी की सम्भावना लग सकती है अन्यथा नहीं।

प्रश्न : शहद मधु को मांस व मदिरा की भांति महाविगय माना गया है। क्या साधु-साध्वी उनका उपयोग कर सकते हैं ?

उत्तर : आगम में शहद मधु को महाविगय माना गया है- यह बात सही है पर अभक्ष्य नहीं माना गया है। महाविगय होने से शहद व नवनीत को निष्कारण नहीं लेना चाहिये। लेकिन मांस व मदिरा महाविगय के साथ-साथ अभक्ष्य होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

प्रश्न : कभी कोई यह तर्क करे कि मांस और मदिरा यदि अभक्ष्य हैं, शहद व नवनीत अभक्ष्य नहीं हैं तो अभक्ष्य के साथ इनको क्यों रखा ?

उत्तर : शास्त्रकारों की यह एक शैली है कि वे एकजातीय चीजों को एक साथ गिना देते हैं, पर इतने मात्र से सभी चीजें हेय या उपादेय नहीं होती हैं। शहद और मक्खन को मद्य एवं मांस के साथ जो गिनाया गया है वह महाविगय रूप एकजातीयता की दृष्टि से गिनाया गया है न कि भक्ष्य-अभक्ष्य की जातीयता की दृष्टि से। स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के ध्यान बतलाये हैं।

"चउविहे झाणे पण्णत्ते तंजहा अट्टझाणे, रुद्दझाणे, धम्मझाणे, सुक्कझाणे"

यहां ध्यान जातीयता की दृष्टि से चारों ध्यान हैं, पर उपादेयता की दृष्टि से चारों ही ध्यान ग्राह्य नहीं हैं। आर्त, रौद्र ध्यान हेय हैं और धर्म, शुक्ल ध्यान उपादेय हैं। इसीलिए ध्यान पूर्ण करते समय कहा जाता है कि ध्यान में आर्त, रौद्र ध्यान ध्याया हो तो "मिच्छामि दुक्कडं"। यहां पर भी कोई तर्क करे कि ध्यान कहा गया है अतः चारों ग्राह्य होने चाहिएं। पर यह तर्क बिल्कुल निर्मूल है। इसी प्रकार विगय के विषय में भी क्षीर-नीर विवेकिनी बुद्धि के अनुसार समझना योग्य है।

प्रश्न : असुझता घर हो गया उसके मालिक से दवा मंगवाना या नहीं?

उत्तर : दवा तो स्वयं जाकर लाना उपयुक्त है। यदि घर असुझता हो गया हो, वह व्यक्ति असुझता नहीं हो और दवा अन्यत्र उपलब्ध हो सकती हो तो उसका हाथ अन्यत्र स्पर्शने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती, यदि दवा अन्यत्र उपलब्ध न हो और लेना आवश्यक हो तो वह आपवादिक स्थिति है, उसकी आलोचना होनी चाहिए।

प्रश्न : इंजेक्शन की गणना रोम आहार में है या प्रेक्षप में ?

उत्तर : इंजेक्शन की गणना रोम आहार में नहीं की जा सकती।

प्रश्न : पाँच प्रकार की लीलन-फूलन यदि सूखी हुई हो तो अटकती हैं या नहीं ?

उत्तर : शुष्क लीलन-फूलन अचित्त होने से उसका अटकाव नहीं आता।

प्रश्न : गरमी में पसीने के कारण शरीर व वस्त्रों पर जो फूलन आती है, वह सचित्त है या अचित्त ?

उत्तर : पसीने के कारण गीली चादर के सूखने पर कभी-कभी जो दाग दीखते हैं वह तो पसीने के खार के कारण होते हैं। उसके अतिरिक्त पसीना, पानी एवं मिट्टी आदि के मिश्रण एवं अविवेक से फूलन हो तो वह सचित्त हो सकती है।

प्रश्न : बच्चे को झूला देती हुई बाई सदोष है या निर्दोष ?

उत्तर : झूला झूलती हुई अथवा झुलाती हुई बहिन को असुसती माना जाता है।

प्रश्न : धोवन-पानी की काल मर्यादा का उल्लेख किस आगम में है ? गरम पानी का जैसा उल्लेख है वैसा धोवन-पानी का कहां पर है ?

उत्तर : धोवन-पानी के विषय में २० प्रकार के उल्लेख करते हुए कहा है कि "अन्नथरं वा तहप्पगारं पाणक जातं" का वर्णन आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुत स्कंध के प्रथम अध्ययन में ७/८ उद्देशक में किया गया है। इसकी काल मर्यादा का उल्लेख दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन, दूसरे उद्देशे की गाथा २२वीं के टब्बा में किया गया है।

प्रश्न : जो धोवन-पानी सूर्योदय से पहले बना हुआ या गरम किया हुआ है, क्या वह धोवन या गरम पानी साधु को कल्पनीय है ?

उत्तर : सूर्योदय के पहले गरम किया हुआ पानी या धोवन-पानी प्रासुक हो, असुझता आदि न हो तो वह साधु के लिए कल्पनीय है।

प्रश्न : गृहस्थ के घर में प्रथम प्रहर में बना हुआ धोवन-पानी दूसरे प्रहर में लाकर के चौथे प्रहर के अन्त तक वापरना - यह कल्पनीय कैसे है ?

उत्तर : धोवन-पानी को दूसरे प्रहर में लाते समय हिलाकर लाया हो तो चौथे प्रहर तक वह कल्पनीय माना जाता है। कालातिक्रांत पानी सर्दी में चार प्रहर, वर्षा में तीन प्रहर, गरमी में पांच प्रहर के बाद कल्पनीय नहीं होता है।

प्रश्न : कच्ची ज्वार को सेक कर जो खाने योग्य बनाई जाती है, उन सिके हुए दानों को लिया जा सकता है या नहीं ?

उत्तर : कच्ची ज्वार, जिसे बालू आदि के साथ अच्छी तरह सेक ली हो तो वह अचित्त हो जाती है, जैसे चणा आदि। किन्तु यदि ज्वारी भुट्टे (सिट्टे) के रूप में से की गई हो तो उसमें अचित्त की निर्णायक स्थिति नहीं रहती। इसलिए वह अग्राह्य है। भुट्टे के दानों में भी शंका-शंकी रहती है इसलिए ग्रहण नहीं किया जाता।

प्रश्न : चार स्थावर (पृथ्वी, अप्, वायु और वनस्पति) सचित्त एवं अचित्त दोनों ही होते हैं तो क्या तेऊकाय भी सचित्त-अचित्त दोनों होती हैं, अचित्त तेऊ कौनसी ?

उत्तर : चार स्थावर की तरह तेऊकाय भी सचित्त एवं अचित्त होती हैं। तेऊकाय के साथ एकमेक होकर जो पुद्‌गल अवशेष रह जाते हैं उन्हें अचित्त तेऊकाय कहते हैं जैसे- भडभूंजे की भट्टी की अग्नि से भट्टी की तप्त ईंटें, चूल्हे पर चढ़ाया हुआ तप्त तवा एवं राख आदि।

प्रश्न : कच्चे खोपरे का पानी एवं कच्चा खोपरा सचित्त है या अचित्त?

उत्तर : कच्चे खोपरे का तात्पर्य अपक्व नारियल से नहीं है, पके हुए नारियल के गीलेपन से है। ऐसे कच्चे/गीले खोपरे का पानी जब तक खोपरे के अन्दर है तब तक सचित्त माना जाता है। बाहर निकलने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् इस पानी को सचित्त नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार खोपरे में से बीज अलग हो जाने पर खोपरा भी सचित्त नहीं माना जाता जैसे आम आदि का रस एवं पणा। पूर्व परम्परा ऐसी ही ज्ञात है।

प्रश्न : पेन जब जेब में रहता है तो अचित्त मानना और लिखें तब उसको सचित्त मानना कहाँ तक न्यायसंगत है ?

उत्तर : पेन तो अचित्त ही है और सभी उसे अचित्त ही मानते हैं। मतभेद स्याही को लेकर चलता है। एक पक्ष का कहना है कि स्याही में फूलन आ सकती है इसलिए प्रयोग नहीं करना चाहिये। परन्तु यह उनकी केवल आशंका मात्र है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार इसमें कई ऐसे केमिकल्स मिलाये जाते हैं जिनसे स्याही में फूलन नहीं आ सकती। इस विषय को "संयुक्त निर्णय समीक्षा" में श्रीमान् कालूरामजी छाजेड़ आदि ने स्पष्ट किया है।

जो स्याही में सचित्त की आशंका करते हैं उनको नियमानुसार स्याहीयुक्त पेन चाहे जेब में हो, चाहे लिख रहे हों - ऐसे व्यक्तियों का संघटा टालना आवश्यक है। ऐसा नहीं कर जेब में रहने पर संघटा नहीं मानना और लिखते समय संघटा का प्रतिपादन करना युक्तिसंगत नहीं है।

प्रश्न : मक्खन (बिना छाछ) में जीवों की उत्पत्ति होती है अथवा नहीं? होती है तो कितने समय बाद ? इसका प्रमाण क्या ?

उत्तर : छाछरहित मक्खन में जीवों की उत्पत्ति हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए उसमें जीवों की उत्पत्ति को निश्चय रूप से नहीं कह सकते। परम्परा से छाछ से निकाला हुआ मक्खन अन्तर्मुहूर्त के बाद ग्राह्य नहीं समझा जाता। छाछ के अन्दर रहा हुआ मक्खन भी बिना कारणिक अवस्था में साधु-साध्वी को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : इलेक्ट्रोनिक घड़ी वाले द्वारा चरण स्पर्श करने को असुझती मानना या नहीं, मानना तो क्या प्रतिदिन प्रायश्चित्त लेना ?

उत्तर : इलेक्ट्रोनिक घड़ी वाला व्यक्ति चरण स्पर्श करे और संतों को ज्ञात हो जाय तो उसे ध्यान दिला देना चाहिए कि इलेक्ट्रोनिक घड़ी रहते हुए चरण स्पर्श नहीं करे। इलेक्ट्रोनिक घड़ी जिस समय चल रही हो उस समय उसे असुझता मानना चाहिए।

इलेक्ट्रोनिक घड़ी चालू रहते हुए यदि चरण स्पर्श किया हो तो उसके ज्ञात होने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

प्रश्न : विद्युत (करन्ट) मात्र को सचित्त कैसे माना जाय ? क्योंकि उसमें तो ज्योति नहीं होती है, जो कि अग्निकाय का लक्षण है।

उत्तर : विद्युत का जो प्रवाह प्रवाहित है, उसे विद्युत का प्रवाह कहा जाता है, उसमें संघर्ष समुत्थिए अवस्था विद्यमान है। उसको कोई छूता है तो उसको झटका लगता है। यदा-कदा उसका प्राणान्त भी संभव है। अतः उसमें विद्युत संबंधित धर्म विद्यमान है। परन्तु प्रकाशित होने का माध्यम जहां है वहीं उसका प्रकाश प्रकट होता है। बीच में उसके प्रकट होने का माध्यम नहीं होने से वह प्रकाश नहीं दिखता। किन्तु इतने मात्र से विद्युत प्रवाह नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

प्रश्न : बैटरी सेल को अचित्त माना जाता है, जब कि उसमें मसाला (करन्ट) होता है, तो फिर सेल से चलने वाले यन्त्र, जिनमें बल्ब आदि नहीं जलते हैं, सचित्त कैसे होंगे ?

उत्तर : बैटरी के सेल में मसाला होता है, पर विद्युत प्रवाह की तरह सतत प्रवाहित नहीं होने से करन्ट कैसे कहा जायेगा ? बैटरी चालू करने पर ही करन्ट चालू होता है, बन्द होने पर संघर्ष रूप अवस्था न होने से विद्युत प्रवाह रुक जाता है अतः संघटा नहीं लगता, पर बल्ब के अभाव में भी यदि विद्युत प्रवाह चालू हो तो संस्पर्श नहीं किया जा सकता।

प्रश्न : पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति सचित्त और मिश्र भी होते है। फिर लाउडस्पीकर उपयोग में लेने वाले किस अपेक्षा से लेते हैं ?

उत्तर : लाउडस्पीकर उपयोग करने वाले प्रायः सचित्त तेऊ का प्रय मानकर उपयोग करते हैं। अचित्त एवं मिश्र मानकर नहीं। क्योंकि यदि अचि मानकर उपयोग करें तो फिर दण्ड किस दोष का ग्रहण करते हैं ? लाउडस्पी में बोलने के फलस्वरूप दण्ड स्वीकार करते हैं। दण्ड दोष लगने पर लिया ज है। अतः स्पष्ट है कि उसमें सचित्त तेऊकाय का प्रयोग मानकर उपय करते हैं।

प्रश्न : उपाचार्य श्री १००८ श्री गणेशीलालजी म. सा. ने श्रमण में रहते हुए ध्वनिवर्धक यन्त्र में कोई बोले तो क्या कोई दण्ड का विधान किय

उत्तर : सभी उपाध्याय एवं मुनिवरों की अनुमति की हूबहू पंक्तियों उल्लेख करते हुए उपाचार्यश्रीजी ने निर्णय दिया कि भीनासर सम्मेलन में ए विषयक कृत प्रस्ताव में मुनिधर्म के अपवादादि का निर्णय न हो जाय तब यदि कोई ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलेगा तो वह स्वच्छन्द समझा जायेगा और स्वच्छन्दता का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त दिया जायेगा।

प्रश्न : संत-सती वर्ग माइक पर क्यों नहीं बोल सकते ? इसके लि निम्न तर्क है :-

१. हरी लिलोतरी पर संत वर्ग का चलना निषेध है, किन्तु दिशा मैद जाते हुए या अन्य कार्य से जाते हुए हरी लिलोतरी का मैदान हो, उसमें संकड़ी-सी पगडण्डी हो, सामने से भागती हुई गाय आ रही हो, तो पगडण्डी हटकर संत-सती वर्ग को भी हरी घास पर कदम रखना पड़ता है, जो कि निषि है, किन्तु अपवादस्वरूप रखना पड़ता है, तो अपवादस्वरूप माइक का प्रयोग नहीं मान्य हो ?

२. दवाई, ऑपरेशन वगैरह का भी निषेध है, किन्तु उसका प्रयो उपयोग अपवादस्वरूप होता है, फिर माइक क्यों नहीं ?

३. चश्मे का भी निषेध है, किन्तु आंख की कमजोरी को दूर करने लिये अपवादस्वरूप उपयोग होता है, फिर विशाल समुदाय के कान तक न पहुंचने वाली आवाज को उन तक पहुंचाने के लिये माइक का प्रयोग क्यों नहीं

४. श्रद्धालु जन संतों के प्रवचन श्रवण हेतु काफी दूरी तय करके आ है, किन्तु उन्हें मनोरथ सिद्धि नहीं होती इससे खीज कर वे दुःखी होते हैं, युवा वर्ग अश्रव्य प्रवचन स्थल को छोड़कर सिनेमा या अन्य स्थल की ओर जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में क्या संत-सती वर्ग को आवागमन की व्यर्थता कारण दोष का भागी नहीं होना पड़ता ? क्या सिनेमा आदि स्थलों पर गये युव के हीन कर्मों में संत-सती वर्ग का निमित्त नहीं कहलायेगा ?

उत्तर : संकड़ी पगडण्डी पर चलते हुए सामने गाय आदि के आ जाने पर हरी लिलोतरी पर चलने का, दवा, ऑपरेशन आदि चिकित्सा लेने का, चश्मे का नम्बर निकलवाने एवं बनाने आदि के जो प्रसंग हैं वे अपवाद०स्वरूप मार्ग हैं। ध्वनिवर्धक यंत्र के साथ इन तर्कों का सम्बन्ध जोड़ने से यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपवाद तथा उत्सर्ग को समझा जाय।

उत्सर्ग :- राजमार्ग को उत्सर्ग कहते हैं, जैसे पंच महाव्रत, तीन गुप्ति आदि।

अपवाद:- "उत्सर्गात् परिभ्रष्टस्य अपवाद गमनं" उत्सर्ग मार्ग से जब गिरने का प्रसंग आता है तब अपवाद मार्ग में गमन होता है।

जैसे थोड़ी-थोड़ी वर्षा बरस रही हो, तो उसमें भिक्षाचर्या के लिए सन्त-सती नहीं जा सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है, पर इसका अपवाद मार्ग भगवान ने बतलाया कि चाहे जोरदार वर्षा बरस रही हो, उस समय यदि लघु शंका या दीर्घ शंका आ जाय, तो उस जोरदार वर्षा में भी उसके निवारणार्थ प्रवृत्ति करें।

उत्सर्ग और अपवाद एक ही मार्ग के लिए लागू होते हैं। संयम मार्ग की आराधना का जो राजमार्ग है, वह उत्सर्ग है, पर संयमी जीवन खतरे में हो तव उसके लिए अपवाद में गमन होता है।

प्रश्न में जो भी तर्कें दी गई हैं वे सव संयमी जीवन के खतरे में पड़ने पर अपवाद मार्ग में ग्रहण करने की हैं।

श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनिवर्धक यन्त्र में वोलना उस अपवाद में ग्रहीत नहीं होता। कोई साधक नहीं बोलकर मौन रखता है, तो उसके संयमी जीवन को कोई खतरा नहीं आता, वल्कि मौन साधना से संयमी जीवन में निखार आता है। किन्तु अस्वस्थ है और उपचार नहीं करवाता है तो उससे संयमी जीवन को खतरा पैदा हो जाना सम्भव है। साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य उपदेश देने का नहीं, आत्म-साधना करना है। साधक आत्म-साधना करते हुए अपनी मर्यादानुसार जितना परोपकार, उपदेश आदि कर सकता हो करे, पर महाव्रतों में दोष लगाकर नहीं। अतः उत्सर्ग मार्ग में श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनिवर्धक यन्त्र का प्रयोग कतई वांछनीय नहीं है और अधिक व्यक्तियों को सुनाने के लिए अपवाद मार्ग भी लागू नहीं होता।

नेत्र की रोशनी के बिना संयम-साधना भली-भांति हो नहीं सकती। संयमी जीवन खतरे में पड़ सकता है। अतएव संयम की सुरक्षा हेतु चश्मे का अपवाद बनता है, न कि माइक का।

चौथी तर्क पर भी आप चिन्तन करें। मान लीजिए आपने सामायिक ले रखी है अथवा जैन धर्म को सत्य-यथार्थ मानकर चल रहे हैं। एक व्यक्ति आपके

पास आता है और वह आपको कहता है कि आप सामायिक छोड़ दीजिए अथवा जैन धर्म को असत्य, अयथार्थ मानिए, नहीं तो मैं चोरी करूंगा, व्यभिचार करूंगा आदि, उस समय आप क्या करेंगे ?

क्या आप सामायिक छोड़ देंगे अथवा जैन धर्म को असत्य, अयथार्थ स्वीकार करेंगे ? सम्भव है, आपका उत्तर रहेगा, नहीं। आपके सामायिक नहीं छोड़ने से अथवा जैन धर्म को असत्य/अयथार्थ नहीं कहने से वह व्यक्ति चोरी करता है, व्यभिचार सेवन करता है तो क्या उसका पाप आपको लगेगा ? नहीं ! क्योंकि आपकी भावना यह नहीं है कि वह व्यक्ति चोरी अथवा व्यभिचार का सेवन करे, अतः जब आपकी भावना ही वैसी नहीं है तो उसका पाप आपको कैसे लग सकता है ?

इसी प्रकार सन्त-सती वर्ग के स्थान से निकल कर कोई व्यक्ति सिनेमा आदि स्थलों पर चला जाता है तो उसका पाप-दोष सन्त-सती वर्ग को नहीं लगता और न वे उसके निमित्त ही माने जा सकते हैं। कदाचित् यह मान लें कि सन्त-सती वर्ग के ध्वनिवर्धक यन्त्र में नहीं बोलने से युवाओं का सिनेमा आदि स्थलों पर जाने में सन्त-सती वर्ग निमित्त हैं, तो कभी ऐसा भी प्रसंग आ सकता है कि कोई भाई सन्त-महात्माओं को कह सकता है- आप महाव्रत छोड़ दीजिए अन्यथा मैं कत्लखाना खोल कर अनेक पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करूंगा तो क्या वैसी स्थिति में सन्त-सती वर्ग को महाव्रत छोड़कर गृहस्थ बन जाना चाहिए ? नहीं। ऐसे प्रसंगों पर सामने वाले व्यक्ति को समझाया जा सकता है। कदाचित् समझाने पर भी वह नहीं माने तो उसके कृत्यों का दुष्परिणाम उसी को भोगना पड़ेगा, न कि सन्तों को। वैसे ही सन्त-सती वर्ग के माइक पर नहीं बोलने से कोई व्यक्ति अन्यथा प्रवृत्ति करता है तो उसका पाप-दोष सन्त-सती वर्ग को नहीं लगता।

प्रश्न : जब श्रमण वर्ग के प्रवचन आदि की पुस्तकें प्रेस में छपाई जाती हैं, तो प्रवचन आदि टेप क्यों नहीं कर सकते ? क्योंकि आखिर प्रेस भी तो विजली से ही चलते हैं, फिर टेप करने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर : सन्त-सती वर्ग के व्याख्यान-स्थल एवं ठहरने के स्थल में एकेन्द्रिय जीव यथा - बादर तेऊकाय, कच्ची वनस्पति, अनाज एवं सचित्त आदि पदार्थ बिना ताले के खुले पड़े हुए हों तो इन सचित्त पदार्थों के रहते हुए सन्त-सती वर्ग को सुख-समाधे वहां ठहराना नहीं कल्पता। सचित्त पदार्थों का उपमर्दन भी वहां नहीं होना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने पांच अभिगम का निर्देश दिया है। सचित्त-अचित्त के विवेक सम्बन्धी उन अभिगमों का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है- फूल, माला, इलायची आदि सचित्त पदार्थ सहित श्रावक समवसरण में प्रवेश नहीं करे। उसका परित्याग करके समवसरण में श्रावकगण के प्रवेश की विधि है। भगवान व सन्तों के चरण स्पर्श न करने पर

भी उस स्थल पर उन एकेन्द्रिय प्राणियों का उपमर्दन शास्त्रकारों ने योग्य नहीं माना इसलिए उसका निषेध किया। सम्राटादि चतुरंगी सेना सजा करके दर्शनार्थ पहुंचते, उसमें हिंसादि कार्य होते थे पर वे समवसरण के बाहर ही। उसी तरह सचित्तादि पदार्थों को वे बाहर ही छोड़ देते थे।

तीर्थंकर प्रभु यह जानते थे कि ये सब दर्शनार्थ ही आ रहे हैं। इनके द्वारा आरम्भजा हिंसा हो रही है फिर भी वह समवसरण की सीमा के अन्तर्गत न होने से तीर्थंकर देवों ने उनका निषेध नहीं किया।

व्याख्यान-स्थल पर सन्तों के समीप बैठ कर निर्जीव साधनों से कोई व्याख्यान नोट करे या प्रश्नोत्तर आदि का आलेखन करे तो उसके लिए निषेध नहीं है, किन्तु व्याख्यान-स्थल पर एवं सन्तों के समक्ष विद्युत आदि साधनों से टेप आदि करना निषिद्ध है, क्योंकि विद्युत बादर तेऊकाय का जीवन है। वह असंख्य जीवों का पिण्ड है। इससे षट्काय के जीवों का उपमर्दन हो जाता है। अतएव अहिंसा की परिपालना करने वाले साधक के सामने इस प्रकार का सावद्य कार्य नहीं हो सकता। साधु की समीपता एवं व्याख्यान-स्थल की सीमा से दूर बाहर जाने के बाद श्रावक निरवद्य साधनों से आलेखन की सामग्री का टेप करे या प्रिण्ट, यह उस पर निर्भर है, साधु का सम्बन्ध उससे नहीं जुड़ता।

यदि साधु-मर्यादा को छोड़कर साधु सावद्य कार्यों में भाग लेता हो, प्रूफ संशोधन आदि कार्य स्वयं सम्पन्न करता हो तो उसमें दोष की संभावना रहती है। गृहस्थ ने जो लिखा है वह शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध है या अशुद्ध ? यह साधु बता सकता है। शुद्धि-अशुद्धि बता देने मात्र से साधु की सीमा से बाहर होने वाला आरम्भ का दोष साधु को नहीं लग सकता, जैसा कि समवसरण के बाहर का आरम्भ भगवान को नहीं लगता। अतएव साधु के समक्ष या व्याख्यान में आरम्भजनित साधनों का प्रयोग निषिद्ध है।

प्रश्न : आजकल संत-सतियांजी का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्रकाशित होने लगा है। जो साधु-साध्वी लाउडस्पीकर में तो इसलिये नहीं बोलते कि उन्हें अग्नि के जीवों का आरम्भ लगेगा, तो क्या उन्हें पुस्तक-प्रकाशन करवाने से होने वाली हिंसा का पाप नहीं लगेगा ?

उत्तर : प्रश्न युगानुकूल है और सभी के लिये समझने जैसा है। साधु के लिये पंच-महाव्रतों का पालन सर्वप्रथम अनिवार्य है। साधक संयमीय मर्यादाओं में रहता हुआ ही जन-जागरण कर सकता है। साधु मर्यादा से विपरीत कार्य करना साधु के लिये सर्वथा अकल्पनीय है।

लाउडस्पीकर का उपयोग करने से इससे होने वाली हिंसा का साक्षात् सम्बन्ध उपयोग करने वाले से होता है। इसलिए महाव्रतधारी संत-सती वर्ग को उसका उपयोग करना उचित नहीं है।

जहां तक साहित्य प्रकाशन का प्रश्न है, प्रकाशन कार्य में भी इलेक्ट्रिक-अग्नि आदि से जीवों की हिंसा होती है, अतः साधु प्रकाशन के कार्यों में भाग नहीं लेता। साहित्य प्रकाशन ही क्यों ? साधु को किसी भी सावद्य प्रवृत्ति में भाग नहीं लेना चाहिये ।

अभी आगमों की व्याख्या लिखवाने का जो काम चल रहा है वह मुख्य रूप से संत-सती वर्ग के आग्रह पर प्रारम्भ करवाया गया है क्योंकि साधु-साध्वी जव आगमों का अध्ययन कर रहे थे, उस समय राणावास चातुर्मास में जब मैंने सूत्र संस्पर्शी व्याख्याएं समझाईं तो उन सभी का यह आग्रह रहा कि आप इन्हें लिखवा दीजिये। क्योंकि एक तो हमारी बुद्धि इतनी तेज नहीं कि जैसा आप कहें वैसा एक ही बार में अवधारण कर लें। दूसरी बात, हमें समझाना ही पर्याप्त नहीं होगा। साधु-साध्वी का विशाल समूह है, उन्हें भी तो समझाना है। वे सब आपश्री से समझें- यह संभव नहीं है। क्योंकि न तो आपके पास इतना समय है और न ही सभी को आपकी सन्निधि का संयोग ही मिल पाता है।

साधु-साध्वी वर्ग की इस भावना को लक्ष्य में रख कर शास्त्र लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया, जो अभी भी गतिशील है। इसका ध्येय यह है कि चतुर्विध संघ की अवधारणा सम्यक् रूप से हो।

आगम विवेचना के अतिरिक्त जो लेखन हो रहा है इसमें भी लक्ष्य चतुर्विध संघ की सम्यक् अवधारणा का रहा हुआ है। कदाचित् किसी को यह शंका उठती हो कि संत-सती वर्ग के नाम से उसका प्रकाशन क्यों हो ? तो उसका समाधान यह है कि जो कार्य जिसने किया है उस पर यदि उसका नाम न आकर अन्य किसी का नाम आता है तो वह उपयुक्त नहीं है।

अतः साधनावस्था में साधक को जो अनुभूतियां होती हैं, जो चिन्तन उभरते हैं उनको वे लिपिबद्ध कर लेते हैं। वे मौलिक चिन्तन गद्य एवं पद्य-उभय रूप में हो सकते हैं। इनका जब संग्रह हो जाता है तो वे अनुशास्ता को समर्पित कर देते हैं। अनुशास्ता के माध्यम से कई संत-सती उनसे लाभान्वित होते रहते हैं किन्तु साधु जीवन में फिर जिन पुस्तकादि सामग्री की कोई आवश्यकता परिज्ञात नहीं होती, तब उस सामग्री को अपनी नेश्राय छोड़कर व्यवस्थित स्थान पर प्रस्थापित कर दी जाती है ताकि ज्ञान का साधन होने से कोई भी जिज्ञासु लाभ उठाना चाहे तो उठा सके। जैसा कि पूर्व के आचार्यों आदि द्वारा आगमों पर लिखित टीका आदि सामग्री व्यवस्थित स्थान पर सुरक्षित होने से वर्तमान के जिज्ञासु उसका लाभ उठाते हैं।

हां, इस प्रस्थापित सामग्री में से श्रावक वर्ग उस समय किस संग्रह की उपयोगिता महसूस करे और उसे किस रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करे, यह उनका कार्यक्षेत्र है। इसमें संत-सती वर्ग को भाग नहीं लेना चाहिए। उसमें यदि

अनुचिन्तन को मानव संस्कृति एवं सभ्यता के प्रादुर्भाव से भिन्न नहीं किया जा सकता है। मानव जीवन के साथ धर्म का सम्बन्ध अनादि काल से अनुबन्धित है। अतः धर्म अथवा धार्मिक परम्पराओं के सन्दर्भ में ऐतिहासिक चिन्तन इतना अधिक महत्त्व नहीं रखता है तथापि सामान्य जन-मानस अर्वाचीनता एवं प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, अतः साधुमार्ग की ऐतिहासिक स्थिति पर चिन्तन भी अपेक्षित है और इसे ही यहां स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

जागतिक अवधारणाओं में कुछ अवधारणाएं ऐसी हैं जिन्हें शाश्वत सत्य (Universal Truth) के रूप में माना गया है। धर्म किंवा साधुमार्ग भी उन्हीं अवधारणाओं में एक है। चूंकि चेतना के सर्वांगीण विकास अथवा चरमोत्कर्ष रूप परम साध्य की अवाप्ति (उपलब्धि) का सन्देश इस धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य है अतः इस धर्म का आत्मधर्म से तादात्म्य होना आनुषंगिक ही हो जाता है। इस मौलिक तथ्य के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि साधुमार्गीय धर्म को ऐतिहासिकता के साथ सम्बद्ध करना वैसा ही बेतुका है, जैसा कि मुर्गी और अण्डे के प्रथम होने का प्रश्न।

इतिहास का कार्य है सभ्यता एवं संस्कृति के स्मृति-चिह्नों को सहेजना और उन्हें कालबद्धता के साथ अनुबन्धित करना। साधुमार्ग कोई संस्कृति एवं सभ्यता का नाम नहीं है। उसका सम्बन्ध जीवन के शाश्वत सत्यों से है, अतएव उसे हम ऐतिहासिक घेरे में नहीं बांध सकते हैं। सीधे शब्दों में साधुमार्ग प्रागैतिहासिक धर्म ही नहीं है, वह अपनी आदि को अनादि की कुक्षि में निमज्जित पाता है।

इतिहास एवं प्रागैतिहास की भी कुछ सीमा-रेखाएं हैं। साधुमार्ग उन सीमाओं के संकुचित दायरे से परे ही नहीं, बहुत परे है, तथापि आविर्भाव एवं तिरोभाव अथवा ह्रास एवं विकास के परिप्रेक्ष्य में जब इनकी ऐतिहासिकता पर चिन्तन गतिशील होता है तो हम निम्न निष्कर्ष पर पहुंचते हैं:-

जैन दर्शन के अनुसार अनवरत परिक्रमा को परिगणित करने के लिये काल को उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी षट् आरों (कालखण्डों) के रूप में विभक्त किया है। तदनुसार प्रथम तीन कालखण्डों (आरों) के व्यतीत होने पर भोगभूमिक जीवन व्यवस्था के उपरान्त कर्मभूमिक जीवन निर्वाह की प्रणाली प्रारम्भ होने पर तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने इस साधुमार्ग की परम्परा के प्रति जनमानस को प्रेरित किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि इस अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा से भगवान् ऋषभदेव इसके उद्गाता, आविर्भावकर्ता हैं।

इसके पश्चात् उत्तरवर्ती काल में भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक के तेईस तीर्थंकरों ने अपने-अपने शासन में साधुमार्ग का प्रतिपादन किया था। इस तथ्य को स्पष्ट करने का मौलिक आधार है, नमस्कार मंत्र।

नमस्कार महामंत्र सार्वभौमिक है। वह समग्र जैन समाज को एक स्वर में मान्य है। इसे आगमों का मूल बीज कहा जाता है। यह द्वादशांगी का सारभूत तत्त्व है। इसमें सम्पूर्ण अंग-उपांग समाहित हो जाते हैं। इससे भी प्रचलित जैन धर्म साधुमार्ग के रूप में ही फलित होता है।

इस नमस्कार महामंत्र में पांच पद हैं:-

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं।

इन पांच पदों में द्वितीय पद सिद्ध भगवान् का है और अवशेष चार पद साधु के हैं। पांचवां पद तो सव्वसाहूणं होने से साधु का है ही। अन्य प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ पद भी साधुरूप हैं, क्योंकि उपाध्याय, आचार्य और अरिहंत भी संयमी होते हैं, चारित्र-सम्पन्न होते हैं। ये भी सामान्य साधु की तरह प्रव्रज्या अंगीकार करते हैं और साधना-पथ पर अग्रसर होते हुए, जैसे-जैसे गुणों का विकास करते जाते हैं, वैसे-वैसे उपाध्याय, आचार्य आदि पद से सुशोभित हो जाते हैं, परन्तु मूल में इन तीनों में भी साधुता तो है ही, इसलिए इनको साधु पद में भी सम्मिलित किया जाता है जैसा कि-

सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ ।

(उत्तराध्ययन २०-१)

यहां पर नमस्कार मंत्र स्थित पांचों पदों को सिद्ध और संयति (साधु) इन दो पदों में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार अरिहंत आदि चार पाद साधु के होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य साधु में जब अमुक-अमुक गुणों का विकास हो जाता है और वह आचार्य पद पर आसीन हो जाता है, तब वह आचार्य के रूप में सम्बोधित होने लगता है तथा यथाख्यात चारित्र-सम्पन्न संयती जब घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा बन जाते हैं तब उस विशिष्ट अवस्थाप्राप्त संयती को अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय- ये पदवियाँ विशेषण हैं, जो साधु की अमुक-अमुक अवस्था की परिचायक हैं परन्तु मूल में तो सभी साधु ही हैं।

जैसे मनुष्य-मनुष्य एक होते हुए भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि पदों पर आसीन होने से उस-उस पदवी से संबोधित होते हैं, इसी प्रकार यहां मनुष्य की तरह सामान्य रूप से सभी साधु हैं परंतु 'अरिहंत' आदि पद की दृष्टि से तद्-तद् रूप में सम्बोधित किये जाते हैं।

साधु के अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन चार पदों में सर्वोत्कृष्ट साधु अरिहंत होते हैं और वे ही भव्यों को मोक्ष मार्ग प्रदान करते हैं। इसलिए सिद्ध हो जाता है कि 'साधोः आगतः मार्गः साधु मार्गः' अर्थात् साधु से जो मार्ग आया अथवा साधु ने जो मार्ग बतलाया, वह साधुमार्ग के रूप में प्रचलित हुआ।

इसके अतिरिक्त आगमों में भगवान् के प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा गया है तथा भगवान् को भी 'श्रमण' शब्द से संबोधित किया है यथाः-

"तएणं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्टतुट्ठे उट्ठाए उट्ठद उट्ठिता जाव एवं वयासी-सद्धहामिणे भंते णिग्गथं पावयाण..................।"
-सुखविपाक

इसमें भगवान महावीर को 'श्रमण' कहा है। साथ ही उनके प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा है। भगवान की देशना श्रवण कर सुबाहुकुमार भगवद्वाणी पर श्रद्धान करता हुआ भगवान के समक्ष ही कहता है कि हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन- साधु द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग में श्रद्धा करता हूं। इससे भी साधुमार्ग फलित होता है। इस प्रकार का उल्लेख अन्य भी कई आगमों में पर्याप्त रूप से मिलता है। श्रावक को भी भगवदुपासक या जिनोपासक नहीं कहते हुए श्रमणोपासक कहा गया है। इससे भी साधुमार्ग ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन साहित्य- 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' आदि ग्रन्थों में भी साधुमार्ग को प्राचीन स्वीकार किया है।

साधुमार्ग की प्राचीनता जान लेने पर यह जिज्ञासा प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है कि आज जो दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि अनेक सम्प्रदाय दृष्टिगत होते हैं, उनका आविर्भाव कब और कैसे हुआ ? इस विषयक विस्तृत जानकारी 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' आदि से की जा सकती है परन्तु जिज्ञासा शमनार्थ संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

प्रभु महावीर की जन्मराशि पर भष्मग्रह एवं पंचमकाल के प्रभाव से इसमें उतार-चढ़ाव होने स्वाभाविक थे। इसी प्रसंग को लेकर कल्पसूत्र में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का पूजा-सत्कार उदय-उदय नहीं होगा।

"जप्पभिई चणं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्त सकतें तप्पभिइ चणं समणाणं णिग्गंथाणं निग्गथीणाय नो उदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ।"

(कल्पसूत्र)

प्रभु महावीर के निर्वाणोपरान्त ६०० वर्ष तक साधुमार्ग निर्बाध गति से

चल रहा था, परन्तु वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में इस साधुमार्ग में से एकान्त मान्यता के कारण एक शाखा विलग हो गई जो शरीर पर वस्त्र नहीं रखने के कारण 'दिगम्बर' के नाम से प्रचलित हुई। इसके विलग होने का समय वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष बाद का बतलाया जाता है।

'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' में इसका उल्लेख इस प्रकार आया है-

"वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अविभक्त जैन श्रमण संघ-श्वेताम्बर और दिगम्बर - इन दो विशाल शाखाओं में विभक्त हो गया था। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी.नि. ६०६ (वि.सं. १३६) में दिगम्बर मत की स्थापना हुई।"

साधुमार्ग में चलने वाले संयती आगमानुकूल श्वेत परिधान से युक्त होने से श्वेताम्बर के नाम से सम्बोधित होने लगे। यह श्वेताम्बर उस समय साधुमार्ग का ही उपनाम था।

इसके पश्चात् वीर निर्वाण सातवीं शताब्दी के उत्तरवर्ती समय में बारह वर्ष का भयानक दुष्काल पड़ा, जिसमें साधुमार्गी समाज की भी काफी क्षति हुई। अनेक श्रमण श्री भद्रबाहुस्वामी के साथ उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत में विहार करके चले गये परन्तु जो श्रमण उस दुष्काल के क्षेत्र में स्थित रह गये, वे अपनी स्थिति में सुरक्षित नहीं रह पाये जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर वीतराग देवों की मूर्ति एवं मन्दिर आदि के निर्माण का प्रसंग उपस्थित हुआ और उसी समय से श्वेताम्बर साधुमार्ग दो भागों में विभक्त हो गया। जो विभाग मंदिर की आस्था रखकर चलने लगा वह मूर्तिपूजक (चैत्यवासी) के नाम से प्रचलित हुआ। इसका समय वीर निर्वाण से ६६० वर्ष के लगभग का बतलाया जाता है। परन्तु वीर निर्वाण संवत् ८८२ से तो इनका स्पष्ट रूप से विभक्तिकरण हो गया था जैसा कि 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' में लिखा है-

"श्वेताम्बर परम्परा का मुनि-समुदाय वीर निर्वाण ८८२ (वि.स. ४१२) में दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। एक पक्ष चैत्यवासी संप्रदाय के नाम से और दूसरा पक्ष सुविहित मार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्तभाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे थे।" जो साधु- समाज वीतराग आज्ञानुसार पूर्व की तरह ही आचरण एवं प्ररूपणा पद्धति को अपनाये रहा, वह क्वचित् सुविहितमार्गी एवं स्थानक आदि में स्थित रहने से स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्धि पाने लगा। इस प्रकार मुख्यतया दक्षिण भारत में स्थानकवासी एवं सुविहितमार्गी प्रसिद्धि पाने लगे। इस प्रकार मुख्यतया दक्षिण भारत में स्थानकवासी एवं सुविहितमार्गी के रूप में साधुमार्ग पल्लवित-पुष्पित होता रहा है और उत्तर भारत में यति-समाज का प्राबल्य रहा। वीर प्रभु की जन्मराशि पर लगे भष्मग्रह की परिसमाप्ति पर वीर लोंकाशाह ने जन्म लिया और लघुवय में ही अपने कुशाग्र

बुद्धिबल से राज-सम्मान प्राप्त किया। 'घटना विशेष से संसार से उदासीन होकर आत्मचिन्तन में लगे।' तत्कालीन गृहस्थ वर्ग के लिये 'पढ़े सूत्र तो मरे पुत्र' की लौकिक मान्यता को गौण करके आपने जैनागमों का अध्ययन किया। जैनागमों के अध्ययन से आपके अन्तर्चक्षु खुल गये, जिससे आपने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और उसका प्रचार-प्रसार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार उन्होंने उत्तर भारत में पुनः क्रांति का नाद फूंका और साधुमार्ग का प्रचार-प्रसार किया परन्तु उन्होंने कोई नया मार्ग नहीं चलाया। अनेकों भव्यों ने आपसे जैनागमों का वास्तविक विवेचन श्रवण कर साधुमार्ग में भागवती दीक्षा अंगीकार की और २२ विभागों (संघटकों) में विभक्त होकर अलग-अलग क्षेत्रों में विचरण करके साधुमार्ग को विकसित करने लगे। एक दूसरे संघटक का आवागमन की कठिनाई के कारण विशेष सम्पर्क नहीं हो पाने से लम्बे समय तक अमुक क्षेत्र में ही विचरण रहने से, अलग-अलग दीक्षाएं होते रहने से वे ही संघटक बावीस सम्प्रदाय अथवा (२२) बावीस टोला के नाम से प्रचलित हुआ।' तत्कालीन यति समाज की ओर से उनको काफी उपसर्ग भी आये। एक बार ठहरने का योग्य मकान उपलब्ध नहीं होने से टूटे-फूटे मकान में ठहरे, जिसे तत्कालीन भाषा में ढूंढा कहा जाता था। उस ढूंढे में ठहरने से साधुमार्गी संतों को 'ढूंढिया' कह कर भी पुकारा जाने लगा। अतः स्थानकवासी, बावीस सम्प्रदाय, बावीस टोला और ढूंढिया- सब साधुमार्ग के ही उपनाम हैं।

इस प्रकार अनेक संकटों को सहन करता हुआ, अपने उपनामों में प्रसिद्धि पाता हुआ साधुमार्ग गति से चल रहा था कि वीर निर्वाण संवत् २२८० के आसपास आचार्य श्री रघुनाथजी ने कंटालिया के श्री भीखणजी स्वामी नामक शिष्य को दयादान की सिद्धान्त-विपरीत प्ररूपणा के कारण संघ से बहिष्कृत कर दिया। गुरु से बहिष्कृत हो जाने पर उन्होंने एक नये पंथ की स्थापना की जो 'तेरहपंथ' के नाम से समाज के समक्ष आया।

इस तरह साधुमार्ग से अनेक सम्प्रदाय, पंथ, मत विभक्त होते गये परन्तु मूल साधुमार्ग आज भी सुरक्षित गतिमान है और प्रभु महावीर की वाणी के अनुसार इस भरत क्षेत्र में इक्कीस हजार (२१,०००) वर्ष तक निरन्तर चलता रहेगा।

"जम्बू दीवेणं भन्ते! दीवे भारएवासे इमीसे औसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवत्तियं काल तित्थे अणुसिज्जस्सइ गोयमा! जम्बूदीपे भारएवासे इमीसे ओस्सप्पिणीए ममं एग विसं वास सहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सइ।"

(भगवती शतक २० उ.६)

---

१. पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. की सम्प्रदाय २२ विभागों में विभक्त होने से २२ सम्प्रदाय अथवा २२ टोला नाम प्रचलित हुआ ऐसा भी उल्लेख प्राप्त हुआ है।

यद्यपि महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से तो साधुमार्गीय परम्परा अनादि, अनन्त, अनवरत गतिशील है किन्तु तत्त्व-महोदधि भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से यह स्पष्ट संकेत दिया गया है कि यह परम्परा अर्थात् महावीर शासन का साधुमार्ग इक्कीस हजार वर्ष तक अनवरत गतिशील रहेगा। अस्तु, यह स्थानकवासी अपर नाम से आज भी गतिशील है। प्रभु महावीर के पश्चात् अनेक महान् प्रभावक संघ धुरीण आचार्यों ने इस शासन-उद्यान का बहुत सिंचन किया है।

महान् तपोधनी आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. जैसे क्रांतद्रष्टाओं ने क्रांति-बीजों का वपन किया। महान् ज्योतिर्पुंज आचार्य ज्योतिर्धर जवाहर ने उस सिंचन को सुविशेष गति प्रदान की एवं शांत क्रांति के अग्रदूत, संयमीय मर्यादाओं के सजग प्रहरी, अगाध चारित्रनिधि आचार्यश्रेष्ठ श्री गणेशीलालजी म. सा. ने उन बीजों में सशक्त उर्वरक शक्ति का संचार किया।

प्रश्न : सिद्धों में कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर : सिद्धों में चार भाव प्राण होते हैं। (१) अनंत ज्ञान (२) अनंत दर्शन (३) अनंत सुख (४) अनंत वीर्य ।

संत-सती वर्ग भाग लेते हैं तो वे जितना भाग लेंगे, उतना दोषजन्य सम्बन्ध उनके साथ जुड़ता है पर यह केवल प्रकाशन से ही सम्बन्धित नहीं है। प्रकाशन के अतिरिक्त भी साधु-साध्वी अगर किसी भी सावद्य कार्य में भाग लेते हैं तो उस कार्य में होने वाली सावद्य क्रिया का सम्बन्ध उन संत-सती वर्ग के साथ अवश्य संयुक्त होता है। पर जो सावद्य कार्यों में भाग नहीं लेते हैं उनके साथ सावद्य क्रिया का संभाग संयुक्त नहीं होता।

कई यह तर्क देते हैं कि जब आपको यह ज्ञात है कि यह श्रावक जो प्रतिलिपि उतार रहा है, वह उसका प्रकाशन करेगा तो फिर आप उसे मना क्यों नहीं कर देते ? यदि आप मना नहीं करते हैं, तो क्या आपको अनुमोदन का दोष नहीं लगेगा ?

नहीं। शास्त्रीय दृष्टिकोण यह है कि उसकी सीमा के बाहर जिस कार्य में पुण्य भी हो, पाप भी हो, हिंसा भी हो, रक्षा भी हो तो ऐसे कार्यों में साधु हाँ या ना कुछ नहीं कह सकता।

यथा- जैसा कि राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णन आता है कि प्रदेशी राजा जब केशी श्रमण से प्रतिबोधित होकर श्रावक बनता है तब केशी अनगार उनको कहते हैं कि अब तुम रमणीक बन गये हो, वापस अरमणीक मत बनना, तब- प्रदेशी राजा ने निवेदन किया-

हे भगवन् ! अब तक मैं राज्य की आमदनी के तीन ही भाग करता था, अब चार भाग करूंगा। उनमें से एक भाग से बहुत बड़ी भोजनशाला चलाऊंगा। जिससे दीन-हीन, असहाय-अनाथ, आदि को भोजन मिल सके।

यह सुनकर केशी अनगार कुछ नहीं बोले। उन्होंने यह नहीं कहा कि अरे तुम यह क्या कर रहे हो ? इतनी बड़ी भोजनशाला चलाने से न मालूम कितने जीव मरेंगे ? ऐसा कहने पर भोजन करने वाले दीन-हीन जीवों को अन्तराय लगती, जो योग्य नहीं है। और यह भी नहीं कहा कि तुम्हें भोजनशाला चलानी चाहिये। क्योंकि ऐसा कहने पर भोजन पकाने में होने वाली जीवों की हिंसा का आरम्भ कहने वाले को भी लगता है। अतः केशी अनगार मौन रहे। वैसे ही कोई यह कहे कि मुझे पानी की प्याऊ लगानी है, तो साधु उस पर भी हां-ना कुछ नहीं कहेगा। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि कोई गृहस्थ संतों की नेश्राय से विलग की हुई सामग्री में से किसी की प्रतिलिपि उतार कर उसे जनहितार्थ उपयोग में लेता है तो साधु उसे शास्त्रीय दृष्टि से हां या ना कुछ नहीं कह सकता। हां कहने पर प्रकाशन की हिंसा का दोष लगता है। ना कहने पर जिज्ञासुओं की ज्ञान-तृप्ति में बहुत बड़ी अन्तराय लगती है, अतः इस विषय में मध्यस्थ भाव रखना चाहिये।

कइयों की यह तर्क भी रहती है कि साधु-साध्वी लेखन को ही क्यों करते हैं ? उसके पीछे उनकी प्रकाशन की भावना होती होगी। किन्तु तथ्य यह

हीं है। किसी भी विषय में कुछ भी लिखने का मुख्य उद्देश्य पहले स्वयं का विकास करना होता है, उसके बाद गौण रूप से चतुर्विध संघ की कल्याण भावना भी उसमें निहित रह सकती है। क्योंकि वह भी उस संघ का एक मूल अंग है किन्तु इतने मात्र से उनको प्रकाशन का सहभागी नहीं माना जा सकता।

यदि ऐसा सोचा जाय कि भविष्य में इसका कोई उपयोग कर लेगा, इसलिये लिखा ही न जाय तो यह सोचना भी शास्त्रानुकूल नहीं। क्योंकि जब कोई साधु बनता है तो उसके दर्शन के लिये लोग हजारों मील दूर से आते हैं। उससे हिंसा होती है तो फिर उस व्यक्ति को साधु ही नहीं बनना चाहिए। जिससे वे लोग दर्शनार्थ आवें ही नहीं। किन्तु ऐसा सोचना उपयुक्त नहीं है। भगवान् महावीर यदि दशार्णभद्र राजा के नगर में नहीं जाते तो वे उनके दर्शन के लिये चतुरंगिणी सेना सजाकर नहीं आते। और उससे हुई जीवों की हिंसा भी बच जाती तो फिर आपकी दृष्ट्यानुसार भगवान् को वहां जाना ही नहीं चाहिये था।

लेकिन ऐसा नहीं होता है। भगवान् तो जनहित की भावना से विचरण करते थे, कोई भी किसी भी रूप में आवे तो उसका दोष उन्हें नहीं लगता। साथ ही, भगवान् ने दशार्णभद्र राजा को मना भी नहीं किया कि देवानुप्रिय ! ऐसा मत करो, इससे जीवों की हिंसा होती है। दर्शन करने आना है तो ऐसे ही आ सकते हो। हाथी, घोड़े क्यों लाते हो ? इससे जीवों की हिंसा होगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं कहा। क्योंकि जहां शासन की प्रभावना भी हो और जीव-हिंसा भी हो तो साधु के लिये वहां मध्यस्थ रहना बतलाया है। इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् की यह इच्छा होगी, इसीलिये वे वहां पधारे और दशार्णभद्र राजा को मना भी नहीं किया। यदि ऐसा माना जाय तो फिर भगवान् की मुक्ति ही कैसे होती ? अतः स्पष्ट है कि भगवान् महावीर यह जानते थे कि दशार्णभद्र राजा इस रूप में आएगा तो भी उसके नगर में पधारे, वह इसलिए नहीं कि वह इस रूप में आवे किन्तु इसलिये कि वहां जाने से जनकल्याण होगा।

वैसे ही यदि साधु-साध्वी वर्ग कोई भी लेखन कार्य करते हैं तो उनका यह निश्चय नहीं होता है कि उसका प्रकाशन होगा ही, क्योंकि यह गृहस्थों का कार्यक्षेत्र है। हां, यदि कोई साधु प्रकाशन के इन आरम्भजनक कार्यों में पड़ता है तो उसे दोष लगता है। लेकिन साधु-साध्वी के लेखन की कोई पुस्तक प्रकाशित हो जाने मात्र से उन्हें दोष लग गया- यह मान लेना उचित नहीं है।

एक बात और है कि जिस प्रकार मृत्यु के समय संलेखना संथारा करने के साथ ही इस शरीर को वोसिरा देने के बाद शरीर को जलाने से लगने वाली क्रिया साधु को नहीं लगती, वैसे ही साधु ने जो-कुछ लेखन सामग्री तैयार की उसे अपनी नेश्राय से छोड़ने पर श्रावक उसका क्या उपयोग करता है, क्या नहीं ? तत्सम्बन्धी क्रिया साधु को नहीं लगती। शरीर को वोसिरा देने पर भी यदि साधु की भावना यह रह जाय कि मेरे शरीर को वैकुण्ठी में घुमाया जाय, चन्दन के

काष्ठों पर चिता शयन हो, तो उसे उसका दोष लगेगा। इसी प्रकार यदि साधु किसी भी प्रकार की लेखन सामग्री के तैयार करने पर यह सोचे कि इसका प्रकाशन हो और वह ऐसा हो, वैसा हो, श्रावकों को इस विषय में सावद्य निर्देशन देवे, लिखे कोई और, और पुस्तक स्वयं के नाम से करवाए, प्रकाशन के लिये पैसा इकट्ठा करवाए, उसका विमोचन करवावे, राजनेताओं को बुलावे, आमन्त्रण कार्ड छपवाए, आदि कार्यो में भाग ले तो उसे निश्चित ही दोष लगेगा। पर प्रकाशन आदि किसी भी सावद्य कार्य में भाग नहीं लेता है तो उसे तत्सम्बन्धी कोई दोष नहीं लगता।

क्रान्तद्रष्टा, ज्योतिर्धर स्व. जवाहराचार्य ने इन सभी विषयों को जिस सैद्धान्तिक धरातल पर प्रस्तुत किया है, तदनुसार ही संघ की मर्यादा अक्षुण्ण गतिशील है। अतः उसमें किसी भी प्रकार के दोषावकाश की स्थिति नहीं रहती।

प्रश्न : आचार्यश्री को १००८, संतों को १००७ एवं साध्वी को १००५ क्यों लगाया जाता है ?

उत्तर : तीर्थंकर देव चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। तीर्थंकर देवों का निर्वाण हो जाने पर उस चतुर्विध संघ की सारणा-वारणा-धारणा का उत्तरदायित्व आचार्य पर आ जाता है। पूर्व के आचार्य, पद के योग्य साधु को चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्य पद पर आरूढ़ कर देते हैं। इस प्रकार आचार्य परम्परा चलती रहती है। जिसको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है उसमें चतुर्विध संघ का प्रतिनिधित्व होता है तथा तीर्थंकरों द्वारा प्रदत्त श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी होता है। जिससे यद्यपि आचार्य तीर्थंकर के सदृश नहीं होते हुए भी उनको उपचार से तीर्थंकर के समान कहा जाता है यथा:- "तित्थयरो समो सूरी"। वैसे ही तीर्थंकरों में १००८ शुभ लक्षण भी होते हैं जैसा कि "अट्ठसहस्स लक्खण धरो"।

१००८ लक्षण तीर्थंकरों में होते हैं। उनका उपचार से आचार्य में भी समावेश किया जाता है। जैसे कि उपचार से आचार्य को तीर्थंकर के समान कहा गया है। अतः उक्त विधि से आचार्य के १००८ का विशेषण लगाया जाता है। आचार्य की अपेक्षा मुनियों के कुछ कम होना चाहिए तथा मुनियों से साध्वियों को कम लगना चाहिए। अतः परम्परा से मुनियों के १००७ एवं महासती के १००५ विशेषण लगाया जाता है।

प्रश्न : क्या आचार्य पदवी जैन कुल में जन्मे साधु को ही मिलती है? अगर हां, तो क्यों ? तीर्थंकर सभी जैन थे ?

उत्तर : वर्तमान प्रचलित जातीय दृष्टि से आचार्य पद के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह जैन कुल का ही हो। जैन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी हो सकते हैं। आचार्य पद, जो नमस्कार महामंत्र का तृतीय पद है, उस पद

के लिये यह आवश्यक है कि आचार्य पद जिसको दिया जाय वह जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न आदि से युक्त होना चाहिए।

वैसे भगवान महावीर के पाट पर प्रथम उत्तराधिकारी आचार्यश्री सुधर्मा स्वामी ब्राह्मण थे। द्वितीय उत्तराधिकारी वैश्य श्री जम्बू स्वामी थे। तृतीय आचार्य क्षत्रिय श्री प्रभव स्वामी थे। अतः आचार्य पद की योग्यता एवं जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न आदि गुणों से युक्त किसी भी वंश में उत्पन्न व्यक्ति को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

सभी तीर्थंकर, तीर्थंकर अवस्था के पूर्व जैन ही थे- ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। भगवान ऋषभदेव के पूर्व कोई जातीय बन्धन नहीं था। श्री ऋषभदेव भगवान् ने जन-समुदाय को कर्मभूमि के कर्तव्यों से सम्पन्न बनाया। उसके पश्चात् वर्ण व्यवस्था का सिलसिला चालू हुआ।

प्रश्न : बहुत से आचार्यों, मुनिराजों के नाम से अनेक संस्थाएं जैसे पाठशाला, विद्यापीठ, परीक्षाबोर्ड, स्थानक, उपासरे, छात्रावास, वृद्धाश्रम, बैंक आदि संस्थाएं चल रही हैं। उन विगत एवं वर्तमान आचार्यों, मुनिराजों को इनकी क्रियाएं लगती हैं क्या ?

उत्तर : जिन-जिन व्यक्तियों (आचार्यादि) के नाम से कोई संस्था आदि गृहस्थ चलाता है और जिन संस्था आदि पर आचार्यादि के नाम हैं, वे उन आरंभ-समारंभ आदि कार्यों का अनुमोदन नहीं करते हों तो उनके नाम से गृहस्थों द्वारा किए गए कार्यों की क्रियाओं का संबंध उन आचार्यादि से नहीं जुड़ता।

किन्तु जो आचार्यादि अपने नाम से चलने वाली संस्थाओं में होने वाले आरंभ-समारंभ आदि क्रियाओं का कराना और प्रेरणा देना तो दूर, यदि अनुमोदन भी करते हैं तो पाठशालादि संस्थाओं में होने वाली क्रियाओं का संबंध उनके साथ जुड़ता है और वे आचार्यादि भी उस पाप से संबंद्ध होते हैं। साथ ही अपने व्रतों को भी दूषित करते हैं।

प्रश्न : बहुत से मुनिराज एवं श्रावक विद्यालय, छात्रावास, भवन, स्थानक, पौषधशाला, उपासरा, ग्रन्थालय, नगर, निवृत्ति-निवास आदि संस्थाएं बनाने की प्रेरणा देते हैं। क्या इनकी क्रियाएं मुनिराजों-श्रावकों आदि प्रेरणा देने वालों को आयेंगी ? यदि क्रियाएं लगती हैं तो किस प्रकार की क्रियाएं लगती हैं? क्या ऐसी संस्थाएं बनवाने का उपदेश दे सकते हैं ? यदि दे सकते हैं तो उस संस्था के द्वारा पाप-पुण्य की शुभ-अशुभ होने वाली क्रियाएं उपदेश देने वालों को अथवा उपदेश ग्रहण कर संस्थाएं बनाने वालों को आयेंगी ? संयुक्त रूप से, अथवा किसी एक को क्रिया आयेगी ?

उत्तर : मुनिराज हिंसा से संबन्धित कार्यों के तीन करण तीन योग से त्यागी होते हैं। वे स्वयं हिंसा करते नहीं, न हिंसा दूसरों से करवाते हैं और न ही हिंसा करने वालों को अच्छा समझते हैं- मन-वचन-काया से।

अतः वे अपनी गृहीत मर्यादाओं के अनुसार आरम्भ-समारम्भ के कार्यों का उपदेश नहीं देते। उनका उपदेश तो दान, शील, तप, भावनामय साधु भाषा में होना चाहिये। अतः जो मुनिराज, साधु मर्यादाओं के अनुसार ज्ञान दानादि का तटस्थ उपदेश देते हों तो ऐसे मुनिराजों को गृहस्थ द्वारा किये गये कार्य से कोई दोष नहीं लगता। परन्तु गृहस्थ अपना कर्तव्य समझ कर ज्ञान, दान, आदि देने विषयक संस्था आदि का शुभ भाव से निर्माण करता है तो गृहस्थ को शुभ भाव के अनुपात से पुण्य बंधादि होता है। जो-कुछ आरम्भ-समारम्भ संबंधित हिंसा होती है वह उनकी आरंभजा क्रिया से संबंधित रहती है। इस प्रकार की आरंभजा क्रिया का गृहस्थ के सर्वथा त्याग नहीं होता, मर्यादा हो सकती है।

किन्तु जो साधु, शास्त्र प्रतिपादित मर्यादाओं को तोड़कर मकान बनवाने आदि आरंभ-समारंभ के कार्यों की प्रेरणा देता है तो साधु को भी उस कार्य से संबंधित पाप लगने का प्रसंग है एवं गृहीत मर्यादाओं में स्खलना रूप दोष भी है।

साधु के उपदेश से निर्मित संस्था के प्रति साधु के मन में यदि आसक्ति भाव बन जाता है तो उस संस्था में होने वाली क्रिया साधु को भी लगती रहेगी। अतः साधु को अपनी मर्यादा में रहते हुए ही उपदेश आदि देना योग्य है। मर्यादा तोड़कर आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में भाग लेना कतई योग्य नहीं रहता।

प्रश्न : हमारे पूर्वजों के नाम से जो दुकानें, व्यापार, मिलें, कारखाने, कृषि फार्म आदि चलते हैं। क्या उनकी क्रिया हमारे पूर्वजों को आती है ?

उत्तर : पूर्वजों ने अपने हाथ से दुकान, व्यापार आदि किया और उन वस्तुओं का स्वेच्छा से विधिपूर्वक त्याग नहीं किया हो तो उन दुकान आदि में होने वाली क्रियाओं का सम्बन्ध उन पूर्वजों की आत्माओं के साथ भी रहता है।

प्रश्न : हमारे पूर्वजों के नाम से पौषधशाला, स्थानक, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छात्रावास, विद्यालय, धर्मादा, पारमार्थिक ट्रस्ट आदि अनेक संस्थाएं बनी हुई हैं। वहां के विभिन्न शुभ कार्यों की क्रियाएं क्या हमारे पूर्वजों को लगती हैं ?

उत्तर : पूर्वजों ने पौषधशाला आदि का निर्माण करवाया। ऐसे शुभ कार्य तभी सम्पादित होते हैं जब उन परिग्रह से मोह-ममत्व हटता है और त्याग की भावना बनती है। यदि कदाचित् किसी को उन मकानों में आसक्ति रह गई हो तो उस आसक्ति से सम्बन्धित क्रियाएं उनको भी लगती हैं। आसक्तिरहित किये गए पारमार्थिक कार्यों से उन आत्माओं को महान् पुण्यादि फल की प्राप्ति होती है। वे शुभ क्रियाएं परलोक में भी लगती रहें- ऐसा कम सम्भव है। क्योंकि क्रियाओं

का जन्म-जन्मान्तर सम्बन्ध ममत्व से होता है। किन्तु पारमार्थिक वस्तुओं के वनाते समय ही बनाने वालों ने ममत्व का त्याग कर दिया। इसलिए तत्क्षण ही उनको पुण्य, आत्मशुद्धि आदि लाभ प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न : बहुत-से लोग तीर्थंकरों के नाम से कल-कारखाने, दुकानें, औषधालय, वाचनालय, भवन, ग्रन्थालय, नगर, बालमंदिर, छात्रावास, स्मृति भवन आदि अनेक संस्थाएं चलाते हैं। जब कि तीर्थंकर भगवान मोक्ष पधार गये हैं। ऐसी स्थिति में उनके नामों से चलने वाली संस्थाओं की शुभ-अशुभ क्रियाएं किनको लगती हैं ?

उत्तर : तीर्थंकरों के नाम से किये जाने वाले शुभ या अशुभ कार्य की शुभ-अशुभ क्रिया भी करने वालों को ही लगती है, तीर्थंकर भगवान को नहीं। क्योंकि वे संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के त्यागी व सर्वथा मोह-माया-रहित होते हैं। यहां तक कि उनका शरीर पर भी कोई ममत्व नहीं रहता। जिससे मृत्यु के बाद होने वाले दाह संस्कार की क्रिया का सम्बन्ध भी उनके साथ नहीं होता। तब उनके नाम से अन्यों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों से उन महापुरुषों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं। अतः उनके नाम पर किए गए शुभाशुभ कार्य का सम्बन्ध करने वाले कर्ता का ही होता है।

प्रश्न : इस साधनामय जीवन में परम इष्ट गुरु-गुरुणी का मोह ऐसा हो जाता है कि उसे दूर करना अति ही कठिन है। ऐसी अवस्था में चातुर्मास का समय भी निकालना मुश्किल हो जाता है अतएव ऐसे समय में साधकों को क्या करना चाहिये ?

उत्तर : साधकों में गुरु के प्रति प्रशस्त राग भाव होना स्वाभाविक है किन्तु वह मोह की संज्ञा से अभिहित नहीं होता।

उस प्रशस्त राग भाव के कारण कभी दूरस्थ क्षेत्र में उनकी स्मृति आना भी सहज है। लेकिन साधक को ज्ञान चक्षु से चिन्तन करना चाहिए कि गुरु की आज्ञा से यदि कहीं भी हैं तो गुरु की सन्निधि में ही हैं।

"इंगियागारसंपण्णे" विनीत शिष्य का लक्षण बताया है। गौतम स्वामी प्रभु महावीर के अंतिम समय में भी प्रभु का इशारा पाते ही देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने पहुंचे थे। इस आदर्श को सम्मुख रखते हुए विचार करने पर साधक अपनी साधना में सानन्द संलग्न रह सकता है।

प्रश्न : केश लुंचन का विधान कल्प सूत्र के अतिरिक्त अन्य किस आगम में उपलब्ध होता है ? अंग साहित्य में कोई ऐसा उदाहरण आया है क्या, जिसमें दीक्षा ग्रहण करते समय पंच मुष्ठि लुंचन के अतिरिक्त किसी अन्य समय में लुंचन किया हो ?

उत्तर : केश लुंचन करना जैन श्रमण का आचार है। केश लुंचन की प्रवृत्ति किन्हीं आचार्यों द्वारा पीछे से बनाई गई हो, ऐसा नहीं है। आगम की भाषा में उसे अनादि कहा जा सकता है। क्योंकि द्वादशांगी अनादि है। उसी द्वादशांगी में एवं अन्य प्रामाणिक आगम शास्त्रों में केश लुंचन का विधान आया है।

द्वादशांगी में दूसरा अंग सूत्रकृतांग है। उस सूत्रकृतांग में बताया गया है कि-

संतता केसलोएणं बंभचेर पराइया ।

तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छापविट्ठा व केयणे ।।

अर्थ :- केश लोच से पीड़ित और ब्रह्मचर्य पालने में असमर्थ पुरुष प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हैं जैसे जाल में फंसी हुई मछली दुःख भोगती है अर्थात् तड़फड़ाती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र के माता-पिता मृगापुत्र को श्रमणचर्या के कष्टों को दिखलाते हुए कहते हैं कि 'केस लोओ य दारुणो'। इसके अलावा निरयावलिका पंचक सूत्र में निषधकुमार के वर्णन में बतलाया गया है, कि . . . . . जस्सट्ठाए कीरई णग्ग भावे मुंड भाव अण्हाणए जाव अदन्त वणए अच्छत्तए अणोवाहणाए फलहसेज्जाकट्ठ सेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परधर पवेसे पिंडवाओ लद्धाव-लद्धे उच्चावया य गाम कंटया अहिंया सिज्जई तमट्ठं आराहिई आराहित्ता चरमे हि उस्सास निस्सासेहिं सिज्झिहिई बुज्झहिइ जाव सव्व दुक्खाणं अंतं काहिई।

(निरयावलिका वर्ग ५ (वृष्णिदशां) अ. १, सू. ३)

सूत्रकृतांग की टीका में भी केश लोच का वर्णन आया है। अतः उक्त उदाहरणों से जैन मुनि को लोच करना चाहिए, यह स्वतः सिद्ध है।

प्रश्न : पंचमुष्टि लुंचन में दाढ़ी-मूंछ के लुंचन का समावेश कैसे होता है ? अन्य किसी स्थल पर कोई उदाहरण मिलता है क्या ? यदि नहीं, तो दाढ़ी-मूंछ के लुंचन की परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

उत्तर : दाढ़ी-मूंछ के लुंचन का मस्तक लुंचने में ही समावेश हो जाता है। व्यवहार मे शिर काट डाला कहने से गले से ऊपर का भाग लिया जाता है। उत्तम अंग में मस्तिष्क को माना गया है। उसमें गले के ऊपर के पूरे भाग को लिया है। अतः प्रधानेन व्यपदेशाः भवन्ति के अनुसार मस्तिष्क के लोच का विधान होने से दाढ़ी-मूंछ का लोच भी उसी में सम्मिलित हो जाता है।

प्रश्न : आगम साहित्य में जितने उदाहरण उपलब्ध होते हैं उनमें प्रव्रज्या ग्रहण के समय पंचमुष्टि लुंचन का ही विधान है तो फिर आजकल दीक्षा लेते समय लुंचन क्यों नहीं होता, मुण्डन की यह परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

उत्तर : आगम साहित्य में जितने उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रव्रज्या ग्रहण करते समय पंचमुष्टि लुंचन का ही विधान है। ऐसा ऐकान्तिक विधान नहीं है। आगम साहित्य में सबसे प्रामाणिक अंगशास्त्र हैं। उन अंगशास्त्रों में प्रव्रज्या ग्रहण करते समय मुण्डन का विधान भी उपलब्ध होता है। "तएणं से कासवए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ तुट्ठ जाव हियए जाव पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभिणागंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ-पक्खालित्ता सद्धवत्थेणं मुहं बन्धइ बन्धित्ता परेणं जत्तेणं मेहस्स चउरंगुल वज्जे निक्खमण पाउग्गे अग्गकेसे कप्पई"।। ज्ञाता. १४० ।

इस प्रकार का उल्लेख केवल ज्ञाताधर्म में ही नहीं, सुख-विपाक, भगवती, अन्तगड़ आदि आगमों में भी उपलब्ध हैं। अतः मुण्डन की परम्परा प्राचीन ही नहीं, अनादिकालीन कही जा सकती है।

मेघकुमार के अधिकार में मूल पाठ में जो "अग्ग केसे कप्पई" पाठ आया है, इसका अर्थ कई ऊपर-ऊपर के बाल काटने का करते हैं। पर वह संगत नहीं है बल्कि मस्तिष्क के अगले भाग के केशों को काटना अर्थ होता है।

यह अर्थ 'चउरंगुलवज्जे' पाठ से सिद्ध होता है अर्थात् मस्तिष्क के पिछले भाग में चार अंगुल छोड़कर आगे-आगे के केशों को काटना, उसके साथ ही निक्खमण-पाइग्गे शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षा प्रायोज्य है। अतः मुण्डन की परम्परा प्रागैतिहासिक है।

प्रश्न हो सकता है कि मेघकुमार आदि का दीक्षा ग्रहण के समय पुनः पंचमुष्टि लोच करने का उल्लेख है, यदि घर से मुण्डन करके गये तो फिर लोच कैसे संभव हो सकता है ?

इसका समाधान यह है कि घर पर जो केश कटवाये गये थे उस समय चउरंगुल वज्जे अर्थात् चार अंगुल स्थान को छोड़कर मस्तिष्क के अग्र भाग के केशों को ही कटवाया गया था। जो चार अंगुल स्थान-विशेष के केश अवशेष रह गए थे, उन केशों का दीक्षा लेते समय लुंचन किया जाता है। दशवैकालिक सूत्र में भी बतलाया है कि "जया मुण्डे भविताणं पव्वइयं अगणारियं"। अतः मुण्डन की परम्परा आगम-सम्मत सिद्ध है।

प्रश्न : अलाभ परीषह, यह अंतराय कर्म के कारण है। अंतराय कर्म जीव विपाकी है न कि पुद्‌गल विपाकी। ऐसी स्थिति में अलाभ परीषह का अर्थ वस्तु का न मिलना, कैसे, क्या हो सकता है ?

उत्तर : जीव विपाकी व पुद्‌गल विपाकी आदि भेद अपेक्षा भाव से हैं न कि एकांततः। जो पुद्‌गल विपाकी है, उसका कर्ता भी आत्मा ही है तथा उसका वेदन भी आत्मा ही करती है। इन्हें इसी आपेक्षिक दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए। अंतराय कर्म जीव विपाकी है। उसका प्रधानतः असर जीव पर पड़ता है, अलाभ

परीषह का संबंध केवल पदार्थ नहीं मिलने से नहीं है। अपितु क्षुधातुर को पदार्थ नहीं मिलने पर जो खेद होता है, उसे खेद का वेदन आत्मानुभवपूर्वक होता है। यानी उसका विपाक जीव पर ही मुख्य रूप से पड़ता है। अतः अलाभ परीषह को अंतराय कर्म के अंतर्गत मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा व अज्ञान, दो परीषह होते हैं। मुनि में अज्ञान तो नहीं, फिर यह परीषह क्यों ?

उत्तर : सत्पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से प्रज्ञा विकसित होती है। विकसित प्रज्ञा का प्रभाव प्रवुद्ध वर्ग पर पड़ता ही है। वे जब अपनी जिज्ञासाओं को संतृप्त करने के लिए मुनि के पास समुपस्थित होते हैं तब तर्क-वितर्क का सिलसिला भी चल पड़ता है। प्रश्न का उत्तर योग्य तरीके से देने से श्रोता के संतोषप्रद हो जाने पर उत्तरदाता मुनि को अपनी प्रज्ञा पर अहंकार होना ही प्रज्ञा परीषह का स्वरूप वनता है। इसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति हेतु सतत पुरुषार्थ करने पर भी बोध प्राप्त न हो, तब खिन्नतावश आर्त भाव पैदा हो जाय कि इतना पुरुषार्थ करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो रही है, अतः ऐसे ज्ञान में क्या रखा है ? जैसे कि लोकोक्ति प्रचलित है- "पठितव्यं तदपि मरितव्यं, न पठितव्यं तदपि मरितव्यम्" इस प्रकार ज्ञान, चरित्रादि के प्रति अरुचि होना अज्ञान परीषह कहलाता है।

अज्ञानी के कारण अज्ञान परीषह होता हो ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि बाईस परीषह में स्त्री परीषह भी बताया है जब कि स्त्री साधु के पास होती नहीं।

अगर अज्ञानी होने से ही अज्ञान परीषह माना जाय तो स्त्री के होने पर ही स्त्री परीषह होगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है। एतदर्थ मुनि के अज्ञान तो नहीं होता है फिर भी उपयुक्त दृष्टिकोण से अज्ञान परीषह हो सकता है।

प्रश्न : लज्जा को ढक लेना परीषह है या लज्जा को जीतना परीषह है ?

उत्तर : लज्जा आन्तरिक भावों से सम्बन्धित अवस्था है। उस अवस्था को केवल ढक देने मात्र से ही जीतना नहीं है वल्कि उस अवस्था को ज्ञान-दृष्टि से संशोधित करना ही जीतना है।

आच्छादन तो शरीर का सम्भव है जो आवश्यक भी है क्योंकि वस्त्ररहित शरीर से लज्जा के वैभाविक भाव पैदा होते हैं। वे वस्त्रसहित शरीर से नहीं होते बल्कि शमन होने में सहायक होते हैं।

यथा नवीन आश्रवों को रोक कर पुराने आश्रवों को शामिल किया जाता है वैसे ही वस्त्रसहित अवस्था में नवीन लज्जा का प्रादुर्भाव नहीं होता और पूर्व में कई प्रसंगों से संचित लज्जा के भावों का शमन होता है।

एतदर्थ लज्जा पैदा करने वाले कारणों को आच्छादित करना एवं लज्जा के भावों को ज्ञान द्वारा संशोधित करना लज्जा परीषह को जीतना है।

प्रश्न : मिथ्यादृष्टि जीवों में भी ब्रह्मचर्य, संयम, तप, त्याग, सरलता आदि गुण दिखाई देने पर गुण की अपेक्षा से वे पूजनीय हैं या नहीं ?

उत्तर : पूजनीय के दो अर्थ किये जा सकते हैं। एक- जो वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग में गमन वाला संयमी विशिष्ट पुरुष है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से पूजनीय एवं वंदनीय है। दूसरा- जो एकान्त मत की पकड़पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि गुणों को जीवन में स्थान देता है। वह भी लौकिक दृष्टि से वंदनीय, पूजनीय माना जाता है। पर उसकी दिशा सही न होने से वीतराग देव के मोक्षस्वरूप की दृष्टि से वंदनीय, पूजनीय नहीं हो सकता।

प्रश्न : गुणस्थान द्वार में अविरत सम्यक् दृष्टि को अधर्मी, अपण्डित, अधर्म-व्यवसायी आदि कहा गया है। जबकि वह मोक्षमार्गी है। प्रतिक्षण उसके संवर-निर्जरा भी है। तत्त्वादि का यथार्थ श्रद्धान व भूमिकानुसार आचरण भी है। फिर उसे निन्दनीय क्यों कहा ?

उत्तर : आपने सम्यक्त्वी के लिए जो विशेषण लिखे हैं वे विशेषण थोकड़ों की पुस्तकों में एक से लगा कर चौथे गुणस्थान के प्राणियों तक के लिए हैं। यह किस आशय से आये हैं, यह तो लेने वाले के अभिप्राय पर निर्भर है। किन्तु सामान्य रूप से चौथे गुणस्थान तक का कथन कर दिया हो और यह सोचा हो कि जब इसका विशेष वर्णन करेंगे तब चौथे गुणस्थान तक की स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जावेगी। जो-कुछ भी अभिप्राय रहा हो, यह विशिष्ट ज्ञानियों के ज्ञान का विषय है।

अस्तु, बीकानेर सेठिया ग्रन्थालय से प्रकाशित गुणस्थान द्वार की पुस्तक में सामान्य रूप से उल्लेख कर नीचे टिप्पणी देते समय विशेष उल्लेख किया है कि- "इस द्वार में गुणस्थान का तात्पर्य उस गुणस्थान वाले जीव से है। जैसे पहले गुणस्थान में आठ बोल पाते हैं। इसका मतलब यह है कि पहले गुणस्थान वाले जीव में आठ बोल पाते हैं।"

इस बात की पुष्टि लुधियाना से प्रकाशित दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, छठी दशा में मिथ्यात्व का विशेष वर्णन करते हुए लिखा है कि आत्मा मिथ्यादृष्टि होकर किस प्रकार पांच आश्रवों में प्रवृत्ति करती है-

"से भवति महिच्छे महारंभे . . . . .अहम्मेणं चेव वित्ति कप्पमाणे विहरइ।"

मूलार्थः- "वह नास्तिक अतिलालसा वाला, महान आरम्भ करने वाला, अधिक परिग्रह वाला, अधार्मिक, अधर्मानुगामी, अधर्मसेवी, अधर्मिष्ट, अधर्म में

प्रसिद्धि वाला, अधर्मानुरागी, अधर्म देखने वाला, अधर्म से आजीविका करने वाला, अधर्म के लिए पुरुषार्थ करने वाला और अधार्मिकशील समुदाचार वाला होता है तथा अधर्म से ही आजीविका करता हुआ विचरता है।" (पृ. १८१)

इसके अगले पृष्ठों में देसणं पड़िमा अर्थात् सम्यक्त्व प्रकरण में कहा है-

"सव्वधम्मसइया विभवति तत्सणं बहूइं . . . . .एवं दंसण पड़िमा उपासग्ग पड़िमा।"

मूलार्थ - प्रथम दर्शन पड़िमा में सर्वधर्मविषयक रुचि होती है किन्तु उससे बहुत-से शील व्रत, गुणव्रत, विरमण प्रत्याख्यान, पौषधोपवास सम्यकृतया आत्मा में स्थापन नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार उपासक की पहली दर्शन प्रतिमा होती है। (पृ २१७)

ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में भी श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का जो उल्लेख है। उसमें सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा को श्रुतधर्म माना गया है। और वह सम्यक् दृष्टि में भी पाया जाता है। इससे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को एकान्त अधर्मी आदि के रूप में मानना योग्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सम्यक् दृष्टिभाव मोक्ष अवस्था की प्रथम भूमिका है। यदि प्रथम भूमिका को एकान्त अधर्मादि में मान लिया जाय तो मूल में ही भूल का प्रसंग आ सकता है।

प्रश्न : चवदहवें गुणस्थान में योग क्रिया शान्त है तो फिर वहां भूख, प्यास, सर्दी, गरमी है ?

उत्तर : चतुर्दश गुणस्थानवर्ती आत्मा एक दृष्टि से केवलज्ञान, केवलदर्शन एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों के साथ सम्यक्त्व की पराकाष्ठा पर होती है। अतः उस समय वेदनीय कर्म की प्रकृतियों का भी उदय माना गया है। वह उदय मुख्यतया शरीर पर प्रभाव दिखाता ही है परन्तु उस परिपूर्ण अवस्था की विशुद्धि पर रहने वाली आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों में बाधा नहीं पहुंचा सकता। जैसे छद्मस्थावस्था में क्षुधा वेदनीय कर्म का प्रभाव शरीर पर प्रकट होता है पर छद्मस्थ आत्मा का उपयोग उधर न जाय अथवा समभाव से सहन करे तो उसका अनुभव कम या नहींवत् होता है। वैसे ही ऊपर के गुणस्थान में भी यह बात समझनी चाहिये। क्योंकि गजसुकुमार मुनि आदि को भी अन्तिम समय में वेदनीय कर्म का प्रादुर्भाव हुआ। वेदनीय कर्म उदय में आते हुए रुक नहीं सकते। अतः चतुर्दश गुणस्थानवर्ती आत्माओं में वेदनीय कर्म का उदय भी होता है।

दूसरी बात, चतुर्दश गुणस्थान में सर्वथा योग क्रिया प्रारम्भ में शान्त नहीं है अतः उसमें शीत, उष्णादि परीषह उत्पन्न होने में कोई बाधा जैसी बात नहीं है।

प्रश्न : द्रव्य और तत्त्व में वास्तविक अन्तर क्या है ?

उत्तर : एक दृष्टि से द्रव्य और तत्त्व एकार्थक पर्यायवाची शब्द हैं। तदपि सूक्ष्मता से चिन्तन किया जाय तो अविवक्षित पर्याय वाले पदार्थ को तत्त्व कहा जा सकता है और विवक्षित पर्याय वाले पदार्थ को द्रव्य की संज्ञा दी जा सकती है। प्रचलित व्यवहार में धर्मास्तिकाय आदि ६ द्रव्यों को द्रव्य रूप में एवं नौं तत्त्वों को तत्त्व रूप में कहा गया है।

नौं तत्त्वों में धर्मास्तिकाय का साक्षात् ग्रहण नहीं किया गया है और षड् द्रव्यों में नौं तत्त्वों का विस्तृत विवेचन नहीं है तथापि गौण रूप में एक-दूसरे के प्रसंग से एक-दूसरे का समावेश हो जाता है।

प्रश्न : प्रत्येक वस्तु में कितने निक्षेप एक साथ पाये जाते हैं और कौन-कौन वन्दन-पूजन के योग्य हैं ?

उत्तर : प्रत्येक चेतन व जड़ वस्तु में यथार्थ विवेचन के समय चार निक्षेप पाये जाते हैं। यथा-'नाम', 'स्थापना', 'द्रव्य' और 'भाव', नाम से जीव स्थापना से असंख्यात प्रदेशी जीव की अवगाहना। द्रव्य से असंख्यात प्रदेशी जीव द्रव्य। भाव से उपयोगादि चैतन्य गुण।

पुद्गल से निर्मित वस्तु में भी चारों निक्षेप पाये जाते हैं यथा नाम से पाट, स्थापना से पाट का आकार, द्रव्य से लकड़ी, भाव से वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श एवं बैठने की योग्यतादि।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में चारों ही निक्षेप घटाये जा सकते हैं। भाव सहित चारों निक्षेपों का एक ही वस्तु में पाना यथार्थ वस्तु स्वरूप प्रतीक है। भावरहित तीन निक्षेप वस्तु स्वरूप के यथार्थ द्योतक नहीं हो सकते और चारों ही निक्षेप एक-दूसरे से निरपेक्ष हों तो उन निक्षेपों का कोई मूल्य नहीं है। स्पष्टता से कहा जाय तो तीनों निक्षेप भाव निक्षेप से पूरक हैं।

वन्दनीय, पूजनीय अवस्था चैतन्य से सम्बन्धित है। वन्दनीय स्वरूप को चैतन्य आत्मा ही जानता है, जड़ नहीं। अतः वन्दन चारित्रप्रधान चैतन्य को ही होता है। भाव निक्षेप के अभाव में नाम आदि तीनों निक्षेप संयुक्त रूप से व पृथक् रूप से यथार्थ स्वरूप के द्योतक न होने से वन्दनीय, पूजनीय नहीं हैं।

प्रश्न : एक ही आकाश प्रदेश पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल और जीवद्रव्य का अवगाहन माना गया है। किन्तु क्या कारण है कि एक ही आकाश पर अवगाहित-अवस्थित भिन्न-भिन्न द्रव्य एक-दूसरे में नहीं मिलते ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य में अनन्तानन्त गुण होते हैं- जिन्हें 'अनन्तधर्मात्मक वस्तु' के रूप में कहा जाता है, वे गुण सामान्य एवं विशेष - दोनों प्रकार के होते हैं। सामान्य रूप से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरु-लघुत्व और प्रदेशत्व आदि गुण प्रत्येक द्रव्य में होते हैं इसलिए उन्हें

सामान्य गुण कहा गया है। इनमें जो वस्तुत्व गुण है उसके कारण एक ही क्षेत्र में रहे हुए पदार्थ एक-दूसरे की सत्ता (मूल) में नहीं मिलकर स्व-स्वभाव में स्थित रहते हैं।

प्रश्न : अभवी को तत्त्वों पर श्रद्धा होती है या नहीं, होती है तो कितने पर ?

उत्तर : अभवी एकान्त मिथ्यादृष्टि होता है, अतः उसको यथातथ्य रूप में जिनप्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं होती। वह केवल भौतिक सुख को ही महत्त्व देता है। इसी से गौतम स्वामी जैसी करनी कर नवग्रैवेयक तक जाकर इन नश्वर सुखों को भोगता है, परन्तु जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पाता।

प्रश्न : मनुष्य की १४ लाख योनियों की गिनती किस प्रकार की गई है?

उत्तर : मनुष्य ७०० प्रकार के माने जाते हैं। उनसे १४ लाख योनियाँ फलित होती हैं।

वे इस प्रकार हैं- ७०० प्रकार के मनुष्य पांच वर्ण वाले होने से ७०० x ५ = ३५०० भेद हुए। ३५०० ही सुगन्ध-दुर्गन्ध वाले भी होते हैं। अतः ३५०० x २ = ७००० भेद हुए। पांच रस वाले होने से ७००० x ५ = ३५००० और ८ स्पर्श वाले होने से ३५००० x ८ = २८०००० तथा ५ संठाण वाले होने से २८०००० x ५ = १४००००० लाख योनियाँ मनुष्य की होती हैं।

प्रश्न : चौरासी लाख जीवयोनि के पाठ में १८,२४,१२० प्रकार तस्स मिच्छामि दुक्कडं किस प्रकार होते हैं (प्रतिक्रमण के पाठ से) ?

उत्तर : जीव तत्त्व के ५६३ भेदों को 'अभिहया वतिया' आदि दस के साथ गुणाकार करने से ५६३० भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ द्विगुणित करने से ११२६० भेद हो जाते हैं, फिर इनको तीन कारणों के साथ गुणा करने से १,०१३४० भेद बन जाते हैं, इनको भी फिर तीन काल के साथ गुणाकार करने से ३०४०२० भेद हो जाते हैं। फिर इनको अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु और आत्मा इस प्रकार छह से गुणा करने पर १८२४१२० भेद बनते हैं। अर्थात् इस प्रकार से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है।

प्रश्न : जैनागम के सिवाय व्याकरण आदि पढ़ें तो मिथ्यात्व दोष लगता है क्या ?

उत्तर : सम्यक्त्वी आत्मा जैनागम का मर्म समझने की अभिलाषा वाली होती है। आगमशास्त्र प्राकृत भाषा में हैं। जिससे उनका अर्थबोध सुगमता से प्रत्येक व्यक्ति को दुर्लभ है। अतः उन आगमों का ज्ञान सुगम बनाने के लिए

प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण आदि तत्संबंधित साहित्य के अध्ययन की भी आवश्यकता रहती है। उस आवश्यकता की पूर्ति हेतु संस्कृत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया जा सकता है।

अथवा

शास्त्रीय अर्थ जनमानस को भव्य तरीके से समझाने हेतु भी तत्संबंधित पुस्तकों का अध्ययन किया जा सकता है परन्तु संस्कृत आदि अन्य साहित्य को सर्वोपरि न समझा जाय, न ही धर्मग्रन्थ ही माना जाय। आगमों के सहायक रूप होने की भावना से अध्ययन करें तो मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता है परन्तु संस्कृत आदि व्याकरण को ही सब-कुछ समझा जाय, उसी को धर्मशास्त्र माना जाय तो मिथ्यात्व का दोष भी संभावित है।

प्रश्न : संवर करने वाला श्रावक अछाया में तथा गादी-तकिया पर सो सकता है क्या ?

उत्तर : संवर का विस्तृत दायरा है। परन्तु विवेकशील व्यक्ति को अछाया में संवर नहीं करने का विवेक रखना चाहिए। सुखे-समाधे गादी-तकिया आदि का प्रयोग भी उपयुक्त नहीं रहता।

प्रश्न : संयम शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ क्या है ?

उत्तर : स + यम = संयम। सम्यक् प्रकार से यम-महाव्रतादि का पांच इन्द्रियों और मन से विधिवत् पालन करना संयम कहलाता है। व्युत्पत्ति-सम्यक्रीत्या इन्द्रिय मनसां दमनं आत्मानुकूलेन भवनं संयमः।

जिनदास महत्तर ने संयम का अर्थ किया है-

संजमो नाम उवरमो राग दोस विरहियस्स एगिभावे भवइत्ति ।

जि. चू. पृ. १५

राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव में स्थित होना संयम है। हरिभद्रसूरि ने संयम का अर्थ इस प्रकार किया है- "आश्रवद्वारोपरमः संयमः" अर्थात् कर्म आने के हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह- ये पांच द्वार हैं उनसे उपरमता संयम है।

प्रश्न : बिना मुँहपत्ती संवर किया जा सकता है क्या ?

उत्तर : बिना मुंहपत्ती भी संवर किया जा सकता है पर खुले मुंह नहीं बोलने का विवेक अवश्य रखना चाहिये। बनती कोशिश मुंहपत्ती रखना चाहिये।

प्रश्न : ६ वर्ष की उम्र के पहले किसी को जाति-स्मरण ज्ञान हो जाये और भावना हो तो क्या संयम ग्रहण के लिए प्रतिबंध है ?

उत्तर : आगमिक विधान के अनुसार माता की कुक्षि में जन्म ग्रहण करने की अपेक्षा नौ वर्ष की अवस्था में संयमी जीवन में प्रवेश दिया जा सकता है

किन्तु आपवादिक स्थिति में विशिष्ट ज्ञानी अपने ज्ञान में जैसा देखें वैसा सोच सकते हैं। सुना जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र के बचपन से ही व्युत्पन्न मति वाले होने से, पांच वर्ष की उम्र में ही उन्हें दीक्षा दे दी गयी थी।

प्रश्न : तिर्यंच को अवधिज्ञान होता है ? कौनसे तिर्यंच को हुआ ?

उत्तर : भगवती सूत्र शतक ८ एवं पन्नवणा सूत्र पद ३३ में तिर्यंच पंचेन्द्रिय को मति, श्रुत-ज्ञान के अतिरिक्त अवधिज्ञान होना भी बतलाया है। पर किस तिर्यंच को अवधिज्ञान हुआ, इसका स्पष्ट उल्लेख देखने में नहीं आया।

प्रश्न : कोई अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी भगवन् से मन से प्रश्न पूछे और मन से ही उत्तर प्राप्त करे तो कैसे ?

उत्तर : अवधिज्ञानी के मन से प्रश्न पूछने पर सर्वज्ञ प्रभु अपने मनोद्रव्य की तदनुरूप रचना करते हैं जिससे सर्वज्ञ प्रभु के मनोद्रव्य को देखकर अनुमान से अवधिज्ञानी अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न : सामान्य केवली सबके मध्य में विराजे हैं और अवधिज्ञानी देव, छद्मस्थों के मध्य बैठे हुए उन सामान्य केवली को कैसे जानेंगे ? क्योंकि अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थों का देखना है, जबकि केवलज्ञान अरूपी है ?

उत्तर : अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य पदार्थों को देखने का होने से उसके द्वारा साक्षात् केवलज्ञान देखा नहीं जा सकता। किन्तु केवलज्ञानी के इर्द-गिर्द के प्रशांत वायुमण्डल व उनके विशुद्ध मनोवर्गणा के पुद्गलों से अवधिज्ञानी अनुमान प्रमाण द्वारा यह जान सकते हैं कि अमुक महात्मा केवलज्ञानी है। इसी प्रकार देव भी केवली भगवन्तों को अनुमान प्रमाण द्वारा जान सकते हैं।

प्रश्न : हिन्दुस्तान कौन-से भरतक्षेत्र से सम्बन्ध रखता है ? जो अलग-अलग भरतक्षेत्रों का वर्णन आया है उनमें अपना भरतक्षेत्र कौनसा है?

उत्तर : शास्त्रों में पांच भरत क्षेत्र बतलाये हैं- एक जम्बूद्वीप में, दो धातकीखण्ड में एवं दो अर्द्ध पुष्करद्वीप में। इस तरह पांच भरत में से अपना भरतक्षेत्र जम्बूद्वीप में है। वह मेरु पर्वत से दक्षिण दिशा में है।

प्रश्न : क्या पांच ही सलिलावती विजय हजार (१०००) योजन गहरी हैं ? यदि हैं तो उसके नीचे नारकी के पाथेड़ (प्रस्तर) कैसे रहे हुए हैं ?

उत्तर : जंबूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र की सलिलावती विजय ही अधोलोक तक गहरी गयी है, अन्य महाविदेह की नहीं। इसलिए जीवघड़ा में अधोलोक के मनुष्य के ३ भेद माने गये हैं। यदि पांचों सलिलावती विजय, अधोलोक में गहरी गई होती तो जीवघड़ा में मनुष्य के ३ भेद नहीं लेकर १५ लिये जाते ।

प्रश्न : सरस्वती एवं लक्ष्मी के माता-पिता का क्या नाम था ?

उत्तर : जैनागमों में ऐसा प्रसंग कहीं नहीं आया है। जैन सिद्धान्तानुसार देव-देवियों के माता-पिता का प्रसंग ही नहीं रहता।

प्रश्न : भारतीय साहित्य में दर्शनों की परम्परा का क्या आधार है ? क्या रूप है ? उनके ऐतिहासिक क्रमों का वर्णन बतलाइये।

उत्तर : भारतीय साहित्य विविध विधाओं में विकास को प्राप्त हुआ। भारत में साहित्य की संरचना चिरकाल से चली आ रही है। उसी साहित्य की अनवरत धारा में दर्शन साहित्य विकसित हुआ। जिसने जनमानस में प्रादुर्भूत होने वाले प्रश्न- वह कौन है ? इसका क्या लक्ष्य है ? संसार क्या है ? इसका कोई स्रष्टा है या नहीं ? स्वर्ग-नरक, अपवर्ग निरीह कल्पना है या वास्तविक सत्य ? आत्मा और परमात्मा का क्या रहस्य है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का युक्ति एवं लक्षणों के साथ यथासम्भव समाधान प्रस्तुत किया है।

युक्तिपूर्वक तर्कसंगत तत्त्व-ज्ञान पाने के महत्त्व को दर्शन कहा जाता है। भारतीय दर्शनों के आधार भारतीय साहित्य में षट्-दर्शन की संख्या कब से निश्चित हुई- इसका स्पष्ट समाधान इतिहास के पृष्ठों में प्राप्त नहीं होता है।

अदृश्य जगत् में स्थित प्रश्नों का समाधान किसी विशेष प्रज्ञा के बिना स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता है। उसके लिये कल्पना, युक्ति एवं तर्कों का सहारा लिया जाता है। दर्शन जगत् में भी प्रत्यक्ष की सहायता से अप्रत्यक्ष का प्रतिपादन किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन का आधार है। युक्ति उसका प्रमुख साधन है। प्रत्यक्ष ज्ञान किसके आधार पर है- इसके प्रतिपादन में दार्शनिकों की मुख्यतया दो मान्यतायें रही हैं। कितनेक दार्शनिकों का यह मत है कि दर्शनशास्त्र जन-साधारण के प्रत्युक्षानुभव पर आधारित है तो कितनेक दर्शनों का अभिमत है कि ईश्वर, मोक्ष आदि अनेक विषयों का ज्ञान जन-साधारण पर नहीं अपितु आप्त पुस्तकों के अनुभव पर अधिक सटीक रूप में प्राप्त हो सकता है। न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, सांख्य आदि दर्शनों का मत जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर है किन्तु जैन, बौद्ध आदि दर्शनों का ज्ञान आप्तपुरुषों पर आधरित है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि दार्शनिकों के विचार मुख्यतया युक्ति पर आधारित हैं। किन्तु कुछ विचारकों का कहना है कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति स्वतन्त्र विचारों से नहीं हुई है, वरन् आप्त वचनों से हुई है। अतः भारतीय दर्शन युक्ति से प्रतिपादित नहीं है किन्तु युक्तिहीन है। लेकिन इस प्रकार का आक्षेप सभी दर्शनों पर नहीं किया जा सकता है। क्योंकि भारतीय दर्शनों में जहां आप्त वचनों का आधार माना है वहां युक्ति एवं तर्कों का भी पूरा-पूरा आश्रय लिया गया है।

प्रमाणों के विषय में चार्वाक प्रत्यक्ष को, बौद्ध एवं वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को, नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान,

शब्द एवं उपमान को, प्रभाकर मीमांसक अर्थापत्ति सहित पांच एवं कुमारिल भट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अभाव सहित छः प्रमाण मानते हैं। सम्भव एवं ऐतिह्य आदि को भी पौराणिक दर्शनों में प्रमाण माना गया है। किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण मीमांसा विलक्षण प्रकार की है। जैन दर्शन में मुख्यतया दो प्रमाण माने जाते हैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। इन दो के आधार पर जैन दर्शन वस्तु जगत् की विवेचना प्रस्तुत करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण व्यावहारिक एवं पारमार्थिक के भेद से दो प्रकार का है। परोक्ष प्रमाण स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पांच प्रकार का है। इस प्रकार वस्तु जगत् की समस्त विवेचना को प्रस्तुत करने के लिये उनके आधारभूत प्रमाणों की यह विवेचना जैन दर्शन की एक अपूर्व देन रही है जिन प्रमाणों के आधार पर यथातथ्य रूप से सम्पूर्ण जगत् की समग्र समस्याओं का स्पष्ट एवं सयुक्तिक समाधान जैन दर्शन में उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक क्रम

यूरोपीय दर्शन के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि यूरोपीय दर्शनों की उत्पत्ति एक साथ नहीं वरन् एक-दूसरे के पश्चात् हुई है। कुछ समय तक दर्शन का प्रचार रहता। फिर किसी दूसरे मंत का उत्थान होता। किन्तु भारतीय दर्शनों का विकास इस प्रकार नहीं हुआ है, न ही इनकी उत्पत्ति एक ही समय में हुई है। अतः दर्शनों की उत्पत्ति का वास्तविक क्रम क्या है- इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी आन्वीक्षिकी विद्या में सांख्य योग और लोकायत मतों का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के समय तक न्यायशास्त्र को पृथक् दर्शन के रूप में स्थान नहीं मिला था। आन्वीक्षिकी के रूप में उसकी सत्ता माननी चाहिये। न्यायशास्त्र में जब वैशेषिक दर्शन को समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओं का आधार रूप न रह कर एक स्वतन्त्र दर्शन बन गया। यही कारण है कि पुराणों और स्मृतियों में न्याय और मीमांसा और लोकायत ये दर्शन पृथक् रूप से माने जाते हैं। स्मृति और पुराणों में, विद्या स्थानों में सांख्य, योग और लोकायत को स्थान मिलना सम्भव नहीं था। क्योंकि उनका आधार वेद नहीं था किन्तु महाभारत और गीता से स्पष्ट है कि दर्शनों में सांख्य और योग का स्थान पूरी तरह जम चुका था। और वे अवैदिक नहीं किन्तु वैदिक दर्शन में शामिल कर लिये गये थे। इस प्रकार ईसा के प्रारम्भ की शताब्दियों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा अपना-अपना पृथक् दर्शन के रूप में अस्तित्व जमा चुके थे। किन्तु जैन, बौद्ध और चार्वाक इनके विरोध में ईसा पूर्व के काल से ही विद्यमान थे।

मीमांसा में कर्म और ज्ञान को लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिकों में षट्तर्क या षट्दर्शन की स्थापना हो चुकी थी। जिनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा प्राधान्य रखते थे। ये षट्दर्शनों के नाम वैदिक संस्कृति के अनुसार सामने आये थे किन्तु इनके अतिरिक्त जहां वैदिक से

अतिरिक्त षट्दर्शनों की विवेचना की जाती है वहां अन्य दर्शनों के नाम सामने आते हैं। "षड्दर्शन समुच्चय" ग्रन्थ के प्रणेता हरिभद्र सूरि ने षट्दर्शन में निम्न नाम बतलाये हैं- बौद्ध नैयायिक सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनियं च नामानि दर्शनानाममूनि ।

वौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनिय ये छः मूल दर्शन हैं।

इन छः दर्शनों में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य दर्शनों का समावेश कर लिया गया है। षड्दर्शन के रूप में दर्शनों की विवेचना ईसवी सन् के प्रारम्भ की कई शताब्दियों के बाद हुई है।

भारतीय दर्शनों के विषय में अनेक कारण रहे हुए हैं। जब भी किसी दर्शन का प्रतिपादन होता था तब उसके अनुयायियों का वर्ग स्थापित हो जाता था। वर्गगत सभी सदस्य उन दार्शनिक विचारों को अपना अंग मानकर चलते थे। यह मान्यता एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में अविच्छिन्न रूप से परम्परा के रूप में चली आती थी। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में आलोचना का क्रम भी बहुत तीव्रता के साथ रहा। हर दर्शन अन्य दर्शनों का युक्ति, तर्क आदि से निरसन करता हुआ अपने दर्शन की पुष्टि करने में सतत प्रयत्नशील रहता था। इसका परिणाम यह आया कि भारतीय दार्शनिकों में अपने विचारों को स्पष्ट एवं अभ्रान्त रूप में रखने का एक व्यसन-सा पड़ गया। इससे दार्शनिक साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। इस प्रकार अनेकानेक कारणों से दर्शन एवं तत्संबंधी साहित्य भारतीय साहित्य एवं दर्शन जगत में विकसित हुआ।

प्रश्न : आयम्बिल में क्या पुद्गल को पानी में भिगो के ले सकते हैं? छाछ (ऊपर का पानी) का उपयोग कर सकते हैं ? सागारी पुद्गल को धोवन-पानी में भिगोके खाना जरूरी है या नहीं ?

उत्तर : आयंबिल की विधि इस प्रकार से मानी जाती है कि रूक्ष (लूखा), नमक विगयादि से रहित रोटी आदि जो प्राप्त हो जाय उसे धोवन या गरम पानी में डाल कर उसका उपयोग करना। किन्तु आजकल चने, भूंगड़े आदि का आयंविल करने वाले उन्हें खाकर प्रासुक पानी पी लेते हैं।

आयंबिल में छाछ की आद्य आदि ग्राह्य नहीं है।

प्रश्न : आयम्बिल के अन्दर सुखाई हुई सब्जी उबाल कर खा सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : आयम्बिल के अन्दर सुखाई हुई सब्जी अथवा अन्य कोई साग नहीं लेना चाहिये। आयम्बिल मुख्यतया रसनेन्द्रिय को जीतने की प्रक्रिया है। अतः गृहस्थावस्था में रहने वाला गृहस्थ आयम्बिल करता है तो उसको बनती कोशिश एकजातीय अलूना प्रासुक अन्न, प्रासुक पानी में भिगोये विना नहीं लेना चाहिये।

क्योंकि वह गृहस्थ होने से एकजातीय अन्न को प्राप्त कर सकता है परन्तु साधु जीवन में ऐसी शक्यता नहीं है। अतः उनकी भिक्षा में सहज-स्वाभाविक आयम्बिल योग्य एकजातीय या दोजातीय जो भिक्षा प्राप्त हो वह प्रासुक पानी में भिगो कर के ग्रहण कर सकता है। परन्तु सब्जियां आदि उबाल कर व अन्य तरीके से ग्रहण करना आयम्बिल तप के उद्देश्य के अनुरूप नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न : पंचरंगी आदि में जो २-३-४ लिखवाते हैं वे दया, उपवास न करें, आयम्बिल कर सकते हैं क्या ?

उत्तर : उपवास, दया या आयम्बिल किसी की भी पंचरंगी हो सकती है। अगर उपवास की पंचरंगी हो तो उपवास की पंचरंगी, आयम्बिल की हो तो आयंबिल की पंचरंगी या दया की हो तो दया की पंचरंगी कहना चाहिये। अगर सम्मिलित हो तो उपवास-दया की पंचरंगी या दया-आयम्बिल की पंचरंगी या उपवास-आयम्बिल की पंचरंगी कहना चाहिये। जैसा भी हो, वैसा कथन करना चाहिये।

प्रश्न : क्या खा-पीकर ग्यारहवां पौषध किया जा सकता है ?

उत्तर : खा-पीकर के जो पौषध होता है वह दसवां पौषध कहलाता है। ग्यारहवें पौषध के पच्चक्खान का जो पाठ है, उसमें असणं पाणं खाइमं साइमं के त्याग का उल्लेख है। उसमें पानी का भी आगार नहीं है। अतः ग्यारहवें पौषध में पानी भी नहीं लिया जा सकता है। यदि कोई यह तर्क करे कि पानी लेकर ग्यारहवां पौषध पच्चक्ख लिया जाय तो दूसरा व्यक्ति यह कह सकता है कि जैसे पानी लेकर ग्यारहवां पौषध पच्चक्खा जाता है वैसे ही आहार लेकर ग्यारहवां पौषध पच्चक्खे तो क्या हर्ज है? इसी तरह कोई अब्रह्म को, कोई शृंगार को खुला रखकर ग्यारहवां पौषध करना शुरू करने लगे तो यह उस पाठ की अवहेलना होगी और साथ ही ग्यारहवें पौषध की परिपाटी है वह सारी गड़बड़ में पड़ जायेगी। अतः ग्यारहवां पौषध चौविहारपूर्वक ही करना चाहिये।

प्रश्न : आयम्बिल तथा एकासना वाला दसवां पौषध कर सकता है क्या ?

उत्तर : आयम्बिल, एकासना यदि संवर या दयापूर्वक हो तो दसवां पौषध किया जा सकता है।

प्रश्न : पांच प्रहर का जो ग्यारहवां पौषध पच्चक्खाया जाता है। उसको किस पाठ से पच्चक्खाया जाय ?

उत्तर : ग्यारहवें प्रतिपूर्ण पौषध के पाठ से पच्चक्खाया जाता है। पर ग्यारहवां पौषध पच्चक्खाते समय प्रतिपूर्ण शब्द का उच्चारण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : ग्यारहवें पौषध में पानी क्यों नहीं लिया जाता ?

उत्तर : ग्यारहवें पौषध में पानी नहीं लेना, यह पौषध पच्चखाने वाले पाठ से ही सिद्ध होता है क्योंकि उसमें असणं पाणं खाइमं साइमं का त्याग कहा है इसीलिए ग्यारहवें पौषध में पानी नहीं लिया जा सकता ।

प्रश्न : चौविहार (देश पौषध) पांच प्रहर का पच्चक्खा जाता है। क्या चौविहार उपवास करने वाला ग्यारहवां पौषध ४ प्रहर का नहीं पच्चक्ख सकता ? क्योंकि पाठ में समय का खुलासा नहीं है। पाठ में "अहोरत्तं" शब्द आया है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : चौविहार उपवास वाले के लिए पांच प्रहर का पौषध ग्रहण करने की पद्धति 'परम्परा' से समझनी चाहिये। इसमें कम से कम एक प्रहर दिन का भाग तो होना ही चाहिये। इस परम्परा में चौविहार तो 'अहोरत्तं' का होता ही है। एक प्रहर दिन का भाग पौषध में समाविष्ट हो जाने से परम्परा की दृष्टि से गलत नहीं होता। चौविहार रहने पर भी चार प्रहर का ग्यारहवां पौषध परम्परा से नहीं पच्चक्खा जाता। क्योंकि एक प्रहर का दिन सम्बन्धी भाग इसके साथ नहीं जुड़ता। इसके अतिरिक्त दसवें और ग्यारहवें पौषध की भेद रेखा भी होनी चाहिये। अतः अहोरत्तं शब्द का अर्थ दिन-रात होता है। इसलिए दिन का कम से कम एक प्रहर समय एवं रात्रि मिलाकर अहोरत्तं की मर्यादा का पालन हो जाय, इस भावना से, परम्परा से ग्यारहवां पौषध पांच प्रहर का पच्चक्खाया जाता है। अतः परम्परा से चार प्रहर के ग्यारहवें पौषध का प्रत्याख्यान नहीं करवाया जाता है।

प्रश्न : ग्यारहवें पौषध में समय पांच प्रहर लेना या पन्द्रह घण्टे ? क्योंकि शीतकाल में जब १३.३० घण्टे रात्रि होगी तब क्या आधा घण्टा दिन रहने पर पौषध लेकर सूर्योदय पर पाला जा सकेगा ? नहीं तो ग्रीष्मकाल में १०.३० घण्टे की रात्रि होने पर एक प्रहर लगभग ३.३० घण्टे दिन रहने पर और सूर्योदय पर पार लेने से १४ घण्टे होते हैं। अतः कौन सी व्यवस्था उचित है ?

उत्तर : ग्यारहवें पौषध में पांच प्रहर लेना चाहिये, वह भी जिस दिन उपवास हो उस दिन चौथा प्रहर लगने के आस-पास पौषध ग्रहण कर लेना चाहिये। कदाचित् कुछ विलम्ब हो जाय तो उतना समय सूर्योदय के पश्चात् पूरा किया जा सकता है, रात्रि चाहे कितने ही समय की हो, पर समय ४ प्रहर कहलाता है अतः एक प्रहर दिन का अवश्य होना चाहिये ।

प्रश्न : दो करण तीन योग के दयाव्रत पालक को घर से आये हुए या अन्य स्थान के भोजन आदि को ग्रहण करना या नहीं ?

उत्तर : दो करण तीन योग से दयाव्रत करने वाला गृहस्थ दयाव्रत में भोजन आदि के लिये किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं कर सकता। पारिवारिक सदस्य या अन्य कोई स्वतः ही भोजन ले आवे तो उसका विवेक के साथ उपयोग

कर सकता है। क्योंकि उसके मन, वचन, काया से सावद्य कार्य करने एवं करवाने मात्र का त्याग होता है।

प्रश्न : देशावकाशिक व्रत और खाते-पीते पौषध में कौन से पाठ का अन्तर है ?

उत्तर : देशावकाशिक व्रत का देशावकाशिक व्रत की पाटी से प्रत्याख्यान किया जाता है तथा खाते-पीते पौषध का दयाव्रत के पाठ से प्रत्याख्यान किया जाता है। संवर एवं दसवां पौषध-इन सब का समावेश देशावकाशिक व्रत में ही परम्परा से किया जाता है।

यथाः-

दिग्व्रत यावज्जीवं, संवत्सर चातुर्मासी परिमाण वा ।
देशावकाशिक तु दिवस प्रहर मुहूर्तादि परिमाण ।।

अर्थात दिग्व्रत यावत् जीवन, संवत्सर अथवा चार माह की अवधि का होता है जबकि देशावकाशिक व्रत दिवस, प्रहर, मुहूर्त-परिमाण का भी हो सकता है।

प्रश्न : दसवां पौषध व ग्यारहवां पौषध - दोनों में दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान होते हैं, फिर पौषध से पूर्व सामायिक क्यों दिलवायी जाती है ?

उत्तर : दसवां व ग्यारहवां पौषध दो करण तीन योग से पच्चक्खाया जाता है। उसके पूर्व सामायिक की प्रतिज्ञा करवाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। चूंकि आजकल अनेक व्यक्ति पौषध में रहते हुए भी दिन में शयन करने लग जाते हैं, कई तो २-४ घंटा भी प्रमाद में लगा देते हैं इसलिए पहले सामायिक की प्रतिज्ञा ले लेते हैं ताकि प्रमाद से बच सकें। क्योंकि जब तक सामायिक रहेगी तब तक वे शयन कर नहीं सकते, नियम से पौषध व्रत में भी शयन दिन में नहीं करना चाहिये। रात्रि में भी प्रथम व अंतिम प्रहर धर्म जागरण में व्यतीत करना चाहिये।

प्रश्न : एक ही पक्ष में वृद्धि-हानि हो सकती है क्या ?

उत्तर : यदा-कदा तिथियों की एक ही पक्ष में वृद्धि-हानि हो सकती है।

प्रश्न : तिथि क्षय होवे तो उस दिन के व्रत-प्रत्याख्यान किस दिन पालने चाहिएं, एक दिन पूर्व या उसी दिन ?

उत्तर : ज्योतिष पंचांग के अनुसार जो तिथि क्षय होती है उसका उपभोग उसकी पहली तिथि में हो जाता है। यथा- यदि अष्टमी का क्षय हुआ हो तो उस अष्टमी का सप्तमी के दिन घड़ियों की दृष्टि से उपभोग हो जाता है तदनुसार प्रत्याख्यान के विषय में भी सोचना उपयुक्त रह सकता है।

प्रश्न : शास्त्रों एवं ग्रन्थों आदि को छापना और बेचना क्या यंत्र पीलन कर्मादान के अन्तर्गत लें, क्योंकि यंत्र का उपयोग होता है ?

उत्तर : शास्त्र आदि का छापना, बेचना आदि यंत्र पीलन कर्मादान के अन्तर्गत नहीं हैं।

प्रश्न : स्थानकवासी समाज द्रव्यपूजा मानता है या नहीं ? यदि मानता है तो उसका स्वरूप किस आगम के अनुसार, किस प्रकार मान्य है ?

उत्तर : स्थानकवासी समाज पदार्थों से होने वाली द्रव्यपूजा नहीं मानता। पर आत्मिक विकास हेतु चारित्रादि विशिष्ट गुणनिष्पन्न व्यक्ति का आदर, सत्कार, सम्मान, वन्दनादि करने में तत्पर रहता है। भावशून्य वन्दन को उपचार से द्रव्यपूजा माना जा सकता है।

प्रश्न : उपवास में लौंग, त्रिफला, बिरयाली, इलायची आदि का पानी प्रयोग किया जाता है अतः उपर्युक्त वस्तुएं स्वादिम जाति की होने से उनके व्रत में सुरक्षा की दृष्टि से बाधा आने की शंका रहती है, अतः कैसे-क्या मानना ? और उसी को यदि साधु भी काम में लेवें तो कैसे-क्या मानना ?

उत्तर : उपवास में गृहस्थ हो अथवा साधु, धोवन या गरम पानी ही उपयोग में लेना चाहिये। लौंग, त्रिफला आदि द्रव्यों से बनाया गया पानी अचित्त हो सकता है पर उपवास आदि में उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये। हाँ, जिस श्रावक को सचित्त का त्याग हो वह उपवास के अतिरिक्त दिनों में धोवन एवं गरम पानी के अभाव में यात्रादि के प्रसंग पर लाचारीवश लौंग आदि का पानी उपयोग में लेता हो तो उस समय भी यह विवेक आवश्यक है कि उस पानी का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बदल जाना चाहिये। त्रिफला एवं बिरयाली आदि का पानी औषधि के रूप में साधु को आवश्यक हो तो अपवाद रूप में ले सकता है पर पेय पानी के रूप में लेना नहीं कल्पता।

प्रश्न : गृहस्थ जीवन में गृहस्थी को अपनी गृहावस्था समाज के अनुकूल चलानी पड़ती है। उसके लिए आज के भौतिक स्तर पर अधिक धन उपार्जन की समस्या रहती है, जिससे उसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में वह पाप से कैसे बचे ?

उत्तर : कटु चिरायता को स्वस्थ स्थिति में कोई भी मानव पीना नहीं चाहता, किन्तु रोग-निवारण हेतु लेना पड़ता है। उस समय उसकी भावना यही रहती है कि जितना कम लिया जाय उतना अच्छा है और उसमें भी वह स्वाद लेने की भावना नहीं रखता। वैसे ही विकारी अवस्था रूप रोग को शमन करने हेतु लाचारीवश जो-कुछ भी करना पड़े उसमें आसक्ति का जायका नहीं लेते हुए हिंसा आदि को हिंसा आदि के रूप में मानकर तटस्थ भाव से उत्तरदायित्व का निर्वाह करना अपना कर्तव्य समझे। जैसा कि अनुभवियों का कहना है-

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावें बाल ।।

इस भावना को सदा ध्यान में रखें किन्तु आज के परिवेश में यदि उसे पाप से बचना है तो झूठे प्रतिस्पर्धात्मक प्रदर्शन से ऊपर उठना होगा। अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। इच्छाओं की उद्दाम लालसाओं पर विजय प्राप्त करना होगा। जीवनचर्या सादी बनानी होगी। हिंसाचारी आदि का सहारा अधिक सुविधाओं को जुटाने के लिये करना पड़ता है। सुविधावादी दृष्टिकोण नहीं हो और सीमित आवश्यकताओं में निर्वाह किया जाए तो पाप से एक सीमा तक बचा जा सकता है।

प्रश्न : मिथ्यादृष्टि जीवों को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है फिर उनके स्वर्ग की आयु कैसे बंधती है ?

उत्तर : जैसे विष-विष में अन्तर होता है। कोई अल्प सत्त्व वाला तो कोई अधिक सत्त्व वाला। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी भी कई प्रकार का है। कोई हल्का अनन्तानुबन्धी तो कोई भारी अनन्तानुबन्धी। जो हल्का अनन्तानुबन्धी होता है उसमें शुभ भाव भी आते-जाते रहते हैं।

वाचक उमास्वाति ने कहा है कि "शुभःपुण्यस्य" अर्थात् शुभ भावों से पुण्य का बन्ध होता है। जब अत्यधिक पुण्य का संचय हो जाता है तो उसका उपभोग दीर्घकाल के बिना हो नहीं सकता है तो ऐसे दीर्घकाल तक अत्यधिक पुण्य का उपभोग स्वर्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में अभवी की गति नव ग्रैवैयक तक बतलायी है। उसमें प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। उस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का सद्भाव रहता ही है। अतः अनन्तानुबन्धी कषाय में देवायुष्य का बन्ध होना आगमविरुद्ध नहीं है।

प्रश्न : आचार्य स्कन्दक के शिष्य एवं गजसुकुमाल आदि उपक्रम लगने से कालधर्म को प्राप्त हुए फिर उन्हें योग्य क्रमी कैसे माना जाय ?

उत्तर : शास्त्रीय दृष्टिकोण से आयु दो प्रकार का माना गया है। अनपवर्तनीय आयु और अपवर्तनीय आयु। नारकी, देवता, त्रिषष्ठी शलाका पुरुष, चरमशरीरी आत्मा व युगलिकादि अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं।[1] इनसे भिन्न अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनों आयु वाले हो सकते हैं। उपक्रम दोनों में लग सकते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि अनपवर्तनीय आयु के उपक्रम लगने पर भी अवधि के पूर्व आयुष्य जल्दी नहीं भोगा जाता। किन्तु अपवर्तनीय आयु में उपक्रम द्वारा आयु अवधि के पहले भी भोगा जा सकता है।

---

१. औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुषाऽसंख्यय वर्षा युषोऽनपर्त्यायुषः तत्त्वार्थ २-/५२/

गजसुकुमाल आदि उपक्रम लगने पर भी अनपवर्तनीय आयुष्य वाले थे। पर उनका आयु उतना ही था। अतः उपक्रम लगने के साथ आयुष्य का क्षय हो जाने से सहसा ऐसा लग सकता है। किन्तु वास्तविकता में वे अनपवर्तनीय आयुष्य वाले ही थे।

प्रश्न : 'रायप्पसेणी सूत्र' में राजा प्रदेशी के अधिकार में मशक से भरी हुई हवा का दृष्टान्त है, हवा में वजन नहीं है। विज्ञान हवा में वजन सिद्ध करता है सो कैसे ?

उत्तर : हवा में वजन तो होता है- ऐसा आगमों में भी मान्य है क्योंकि वायु को आगम में भी "गुरु-लघु" बताया है। इससे वायुकाय में वजन होना सिद्ध होता है। दृष्टान्त वस्तुतत्त्व को समझाने के लिए दिया जाता है और वह एकदेशीय होता है, वह काल्पनिक भी हो सकता है। इसका उल्लेख नंदी आदि सूत्रों में भी मिलता है। अतः रायप्पसेणी सूत्र में जो मशक का दृष्टान्त दिया गया है वह तत्कालीन जन-समाज में प्रचलित धारणा को लेकर राजा को तत्त्वबोध कराने हेतु दिया गया है, इसलिए वर्तमान विज्ञान में इसमें कोई विरोध का प्रसंग नहीं बनता।

प्रश्न : जुआ खेलना हमारे लिए पाप क्यों ? जबकि हर एक व्यवसायी अधिक लाभ हेतु स्टॉक करता है और उसमें पैसा लगाता है। कभी नुकसान होता है तो कभी फायदा उठाता है। यह भी एक जुआ है फिर उन्हें पाप नहीं और हमें पाप क्यों ?

उत्तर : जुआ और व्यापार में रात-दिन का अन्तर होता है। सट्टा, फीचर आदि जुए की श्रेणी में आ सकते हैं परन्तु कोई स्टॉक रख कर व्यापार करता है, उसे जुआ नहीं कहा जा सकता। व्यापार में घाटा, मुनाफा होता है। जबकि जुए में हार-जीत होती है। जुआ मानवीय संस्कृति में निन्दनीय है जबकि व्यापार मानवीय संस्कृति में सभ्यों का आचरण है। अतः जुआ और व्यापार को एक मानना युक्तियुक्त नहीं है।

प्रश्न : श्रावक के पहले व्रत में जो पांच अतिचार हैं उनमें अइभारे का तात्पर्य अधिक भार लादना - इतना ही बताया है। इसको सिर्फ पशुओं पर भार लादना ही समझना या अन्य प्रकार से मनुष्यादि से भी सम्बन्ध रखता है- जैसे दुकान में काम करने वालों से शक्ति से ज्यादा काम लेना ? तथा वर्तमान में रीति-रिवाज जो-कुछ चल रहा है, जैसे दहेज-टीका आदि के सम्बन्ध में, जो कि हैसियत से ज्यादा मांग करने से उनका परिणाम क्या होता है ? इसलिए इस प्रकार के विषय पहिले व्रत के अतिचार में आते हैं या नहीं?

उत्तर : अतिभार नामक अतिचार से तात्पर्य केवल पशु पर अधिक भार भरना ही नहीं, मनुष्य पर अधिक भार लादना अथवा उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना भी अतिभार नामक अतिचार के अन्तर्गत आ जाता है।

दहेज-टीका आदि की हैसियत से अधिक मांग को भी अपेक्षा से अतिभार के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

प्रश्न : पांचवें व्रत में मर्यादा का उल्लेख करते हुए बताया है दुपय चउप्पय- जिसमें दुपय में दास-दासी का उल्लेख किया तो क्या इसके अलावा अपनी स्वस्त्री, एक या एक से अधिक विवाह की मर्यादा करना- यह भी दोपद से परिग्रह में आ सकता है ? शास्त्रों में पांच-पांच सौ विवाहों का उल्लेख आता है। पूछने का तात्पर्य यही है कि दोपद में स्वस्त्री को परिग्रह में समझना या कैसे ?

उत्तर : जिस स्त्री के साथ जगत् साक्षी से अथवा गन्धर्व विवाह किया गया है ऐसी विवाहिता स्त्री का समावेश चतुर्थ स्वदार संतोष व्रत के अन्तर्गत आ जाता है। इसके अतिरिक्त दास-दासी, नौकर आदि दो पैर वाले प्राणियों का दुप्पय परिग्रह के अन्तर्गत समावेश होता है।

प्रश्न : श्रावक के पांचवें अणुव्रत को परिग्रह परिमाणव्रत कहना या विरमणव्रत कहना ?

उत्तर : श्रावक का पांचवां परिग्रह परिमाणव्रत मर्यादा रूप होने से उसे परिमाणव्रत ही कहना चाहिये। विरमण रूप नहीं।

प्रश्न : उद्देशक शतक में पिंगल के लिए "सावए" शब्द के प्रयोग के साथ "नियढे" शब्द का प्रयोग होने से पिंगल को श्रावक माना जाये या निर्ग्रन्थ साधु ?

उत्तर : पिंगल श्रावक था। उसके लिए निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया गया है। वह बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथियों से रहित आचरण रूप निर्ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं समझना चाहिये। उसे श्रावक ही माना जाये। उसमें निर्ग्रन्थ रूप आचरण की स्थिति तो नहीं थी किन्तु श्रद्धा एवं प्ररूपणा की स्थिति से सम्पन्न होने से पिंगल श्रावक को निर्ग्रन्थ विशेषण से सम्बोधित किया है।

प्रश्न : लोकान्त में धर्मास्तिकाय का प्रदेश भी है और वहां सिद्धात्मा भी हैं फिर भी सिद्धात्मा की वहां से गति नहीं होती अतः धर्मास्तिकाय का गति सहायक गुण कैसे माना जाय ?

उत्तर : जैसे रेल की पटरी रेल के चलने में सहायक होती है किन्तु रेल को स्वतः नहीं चलाती। उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति के लिए तत्पर जीव एवं पुद्गल के लिए सहयोगी बनता है, उन्हें स्वतः ही नहीं चलाता। जो सिद्धात्मा लोकान्त में स्थिर हो चुकी है वह अटल अवगाहना से अवगाहित है अर्थात् उनके आत्मप्रदेश निष्प्रकंप अवस्था में हैं। लोकान्त में अवस्थित धर्मास्तिकाय के प्रदेश के आगे अलोक है अतः उससे आगे सिद्धात्मा की गति हो नहीं सकती। गुण का अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि उसी क्षेत्र में रहे हुए निगोद जीवों एवं पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय सहयोगी होता है।

प्रश्न : १५ परमाधर्मी देव दस भवनपतियों में से किस भवनपति के अन्तर्गत हैं ?

उत्तर : भगवती सूत्र श. ३ के अनुसार पंद्रह परमाधर्मी देव असुरकुमार भवनपति देव के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न : भीखणजी स्वामी के गुरु रघुनाथजी २२ सम्प्रदाय के थे। तो उनका नाम पट्टावली में क्रम में क्यों नहीं आता है ?

उत्तर : भीखणजी स्वामी के गुरु रघुनाथजी स्वामी थे और वे २२ सम्प्रदाय के ही थे किन्तु वे मरुधरा सम्प्रदाय से जुड़े हुए होने के कारण उस पट्टावली में उनका नाम पाया जाता है।

प्रश्न : "ॐ शांति" का जाप किया जाता है। वह उचित है क्या ?

उत्तर : णमोकार मंत्र का जाप सर्वश्रेष्ठ है। "ॐ शांति" का जाप उचित है या अनुचित- यह व्यक्ति की भावना पर निर्भर है।

प्रश्न : माला फेरना आगमसम्मत है क्या ?

उत्तर : आगम में माला का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु मन की एकाग्रता के लिए साधना का निर्देश है। निर्जरा के १२ भेदों में ध्यान और व्युत्सर्ग अत्यधिक निर्जरा के कारण हैं जो मन, वचन, काया की एकाग्रता के बिना कम संभव हैं। मन आदि की एकाग्रता के लिए माला, अनानुपूर्वी और हाथ की अनानुपूर्वी सहायक साधन हैं। उपचार से इन साधनों को आगमसम्मत मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

प्रश्न : व्याख्यान उठने के बाद पर्युषण पर्व आदि में जो पतासे आदि की प्रभावना बांटी जाती है उसमें बांटने वाले को क्या लाभ व लेने वाले को किस लाभ की संप्राप्ति होती है ?

उत्तर : प्रवचनोपरान्त पतासे आदि की प्रभावना बांटने वाले की यदि शुभ एवं सम्यक्त्व के आचार के अन्तर्गत धर्म प्रभावना की भावना है तो उसे पुण्यबंध के साथ-साथ आत्मशुद्धि का लाभ भी प्राप्त होता है तथा लेने वाले की यदि उस प्रभावना के अनुमोदन रूप शुभ भावना है तो वह भी पुण्यबंध का भागी हो सकता है।

प्रश्न : श्री पारसनाथ तीर्थंकर व श्री शांतिनाथ तीर्थंकर के नाम से आजकल छन्द गाने की, सुनने व सुनाने की प्रथा देखने में आती है। उन छन्दों में ऋद्धि-सिद्धि की मांग, रोग दूर करने की मांग आदि निहित होती हैं। अतः वे छन्द सम्यग् दृष्टिवान् साधु व श्रावक को पढ़ने चाहिएं या नहीं ?

उत्तर : सिद्ध भगवान् या तीर्थंकर भगवान् राग-द्वेपरहित होते हैं। वे न किसी की मांग ठुकराते हैं, न स्वीकार करते हैं। व्यक्ति अपनी भावना उनके

प्रति अभिव्यक्त करता है। उसमें यदि मांग के रूप में भी अभिव्यक्ति हुई है तो उसका यथोचित अर्थ ग्रहण करना चाहिये। जैसे लोगस्स में 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' आदि शब्द प्रार्थनासूचक हैं। वहां वस्तुतः याचना का स्वर नहीं है। अपितु प्रभु के प्रति अपना समर्पण भाव है। किन्तु भौतिक पदार्थों की मांग की जाती है तो वह उचित नहीं है। याचना के स्वर किस रूप में हैं- यह व्यक्ति की भावना पर निर्भर है।

प्रश्न : पोरसी तीन घण्टे की (दिन का चौथा भाग) होती है। ऐसी स्थिति में सुबह का आहार करने के बाद दोपहर की पोरसी हो सकती है क्या?

उत्तर : पोरसी खाना खाने के पश्चात् नहीं होती, उसके पश्चात् उतने घंटों का त्याग हो सकता है। पोरसी का तात्पर्य यह है कि अर्ध-रात्रि के पश्चात् से दिन का चतुर्थ भाग, सूर्योदय पश्चात्, जब तक व्यतीत न हो जाय तब तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। बल्कि परम्परा से उस काल में स्नानादि क्रियाएं भी नहीं होनी चाहिएं जैसा कि चौविहार उपवास के समय स्नानादि नहीं किये जाते ।

प्रश्न : उपवास २४ घण्टे का ही होता है तो सुबह सूर्योदय से पहले-पहले खाया जा सकता है क्या ? अर्थात् आजकल उपवास का समय कब से शुरू होता है व ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर : उपवास के पहले दिन रात्रि को अशनादि के भोग का त्याग रखा जाय तो श्रेष्ठ है। कदाचित् वैसा न बन सके तो उपवास के पूर्व की रात्रि में अर्धरात्रि पश्चात् कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि तिविहार उपवास करना हो तो उपवास के दिन पानी (गरम या धोवन) लिया जा सकता है। उस रात को पूरी रात कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते। उपवास कम से कम उक्त काल का होता है।

प्रश्न : रूपी-अरूपी के स्तोक में अठारह पाप (अशुभ कर्म) होने से चतु:स्पर्शी बताये गये हैं तो पुण्य (शुभ कर्म होने से) में कितने स्पर्शी होते हैं?

उत्तर : भाव पुण्य आत्मा के शुभ अध्यवसाय हैं। उन शुभ अध्यवसायों से आत्मा के साथ संयुक्त होने वाला पुण्य कर्म-द्रव्य पुण्य है। कारण पुण्य के दो भेद है-अनन्तर कारण और परम्परा कारण। आत्मा का शुभ अध्यवसाय अनन्तर कारण है और परम्परा कारण अन्नादिक नव प्रकार है।

कार्य पुण्य- आत्मा से संयुक्त शुभ कर्म रूप द्रव्य तथा उसका फल।

उपर्युक्त पुण्य के भेदों में शुभ कर्म रूप आत्मा से संयुक्त जो पुण्य फल देने योग्य द्रव्य कर्म है वह चतु:स्पर्शी है और संसारी आत्माओं में पाता है।

प्रश्न : पुण्य शुभ कर्म है तो तत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा शुभाश्रव उपादेय की कोटि में आ सकता है। यदि नहीं तो इतना मतभेद क्यों ?

उत्तर : पुण्य के विषय में तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है। परिपूर्ण मोक्ष की आराधना में वज्रऋषभ नाराच संहनन आदि की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। वज्रऋषभ नाराच संहनन एवं औदारिकादि शरीर की प्राप्ति पुण्य का फल है। जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक इसको नहीं त्यागा जाता। अर्थात् मोक्षप्राप्ति में औदारिक शरीर आदि सहायक होने से आपेक्षिक दृष्टि से पुण्य उपादेय भी हैं। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के २२वें अध्ययन में बतलाया है-

शरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।

समुद्र के पश्चिम किनारे स्थित व्यक्ति पूर्व के तट पर स्थित भव्य भवनों में जाने हेतु किसी सुज्ञ पुरुष से जानकारी प्राप्त करता है। उस जानकारी में उसको ज्ञात होता है कि समुद्र के तट पर पाषाण की एवं काष्ठ की नावें रही हुई हैं। पत्थर की नौका को ग्रहण नहीं करना। पर काष्ठ की नौका को जानकर ग्रहण करना है और समुद्र के तट पर जाकर इसे भी छोड़ना है।

इस प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय की त्रिपुटीपूर्वक पाषाण की नौका को त्याज्य और काष्ठ की नौका को ग्राह्य जानकर काष्ठ की नौका को ग्रहण करता है तो वह व्यक्ति भव्य भवनों को पा सकता है।

ठीक इसी प्रकार संसार समुद्र को पार कर मोक्ष रूपी भव्य भवन को पाने के लिए पुण्यानुबन्धी पुण्य एवं पुण्य फल की यथास्थान आवश्यकता है। लेकिन जो इसी को एकान्त चरम लक्ष्य मान लेता है, वह भी वीतराग देव की आज्ञा का आराधन नहीं कर सकता। और जो एकान्त सर्वथा हेय समझता है, वह भी दुर्नय की कोटि में पहुंच जाने से संसार में भटकने की अवस्था में रहता है।

इन उपर्युक्त दृष्टिकोणों से पुण्य हेय भी है, ज्ञेय भी है और उपादेय भी। इस स्याद्वाद दृष्टिकोण को यथारूप में समझने पर सभी मतभेद स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न : पुण्य रूपी है या अरूपी ? अरूपी है तो कैसे ? क्योंकि संसारी आत्मा तो रूपी है तब उस आत्मा का परिणाम (भाव) भी रूपी ही होना चाहिये।

उत्तर : बन्ध रूप और उदय रूप जो पुण्य है वह पौद्गलिक स्वरूप होने से रूपी है लेकिन तत्सम्बन्धी अध्यवसाय चैतन्य का स्वरूप (स्वभाव) होने से अरूपी है। संसारी आत्मा कर्म एवं मन, वचन, काया के पुद्गलों में क्षीर-नीर की तरह मिली हुई होने से रूपी कहलाती है। पर आत्मा का जो स्वभाव है वह

अरूपी है, जैसे दूध और पानी मिल जाने पर भी दूध का माधुर्य एवं पौष्टिकता रूप स्वभाव दूध का ही है न कि पानी का। मन के दो भेद हैं- एक तो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित और दूसरा आत्मा का स्वभाव स्वरूप। जो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित मन है, वह रूपी है व उसकी पर्यायें भी रूपी हैं पर दूसरा जो भावमन है, वह अरूपी है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। वह भावमन द्रव्यमन के साथ ओतप्रोत होने पर भी दूध-स्वभाव की तरह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता अतः अरूपी ही रहता है।

जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप होने से अरूपी है और वह अरूपी ज्ञान पदार्थों को भली-भांति जानता है, देखता है फिर भी उसका अरूपीत्व स्वभाव रूपी नहीं बनता और वह ज्ञान रूपी आत्मा में भी होता है। पर उसको रूपी नहीं कहा जा सकता, वैसे ही आत्मा के स्वभाव रूप अध्यवसाय रूपी पदार्थों के साथ ओतप्रोत होते हुए भी वे अध्यवसाय अरूपी होते हैं।

प्रश्न : चक्रवर्ती का पद मिलना, यह पुण्य का फल कैसे ?

उत्तर : चक्रवर्ती पद, मोटी पदवी व ६३ श्लाघ्य पुरुषों के अन्तर्गत हैं, जो अंतराय कर्म के क्षयोपशम व पुण्य के योग से ही उसकी प्राप्ति होती है इसलिए उसे पुण्य का फल माना जाता है।

प्रश्न : पुण्य, कौन से कर्म की पर्याय है ?

उत्तर : पुण्य के दो भेद हैं:- कारणपुण्य और कार्यपुण्य। कारणपुण्य आत्मा के शुभ अध्यवसाय हैं। कार्यपुण्य कर्म वर्गणा के पुद्गलों का शुभ रूप में परिणमन होना है, जो अघाती कर्म के अन्तर्गत है।

प्रश्न : पुण्य, कौन से कर्म की प्रकृति है ?

उत्तर : पुण्य की जो ४२ प्रकृतियां कही गई हैं, वे अघाती कर्मों के अन्तर्गत मानी गई हैं। वैसे "तत्त्वार्थ सूत्रकार" ने सम्यक्त्व मोहनीय व पुरुष वेद आदि को शुभत्व की अपेक्षा से पुण्य रूप में स्वीकार किया है। यह कथन आपेक्षिक दृष्टिकोण से है।

प्रश्न : पुण्य हेय है, इसका आगम प्रमाण क्या है ?

उत्तर : पुण्य एकांततः हेय नहीं है, अपितु तत्त्व की दृष्टि से ज्ञेय, साधन की दृष्टि से उपादेय व अंत में हेय माना गया है। आत्मा, पुण्य प्रकृतियों का जब तक क्षय नहीं कर लेती, तब तक वह मुक्ति क्षेत्र में पहुंच नहीं सकती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मुक्तिगमन के पूर्व पाप की तरह पुण्य प्रकृतियों को भी जीव छोड़ देता है। क्योंकि वह औदयिक भाव का परिणाम है। सिद्धात्मा में औदयिक भाव का सद्भाव नहीं रहता। अतः मुक्तिगमन के समय पुण्य भी हेय है।

यह बात तत्त्वार्थ सूत्र, नवतत्त्व, कर्मग्रन्थ भाग २-५-६, तत्त्व चर्चाहार, नवतत्त्व चर्चा, भगवती, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों से स्पष्ट है।

प्रश्न : कषाय की मंदता पुण्य है या नहीं ?

उत्तर: कषाय की मंदता से आत्मा में जो शुभ भाव की परिणति होती है, वह निर्जरा व पुण्य का कारण है, किंतु जो कर्म पुद्गल रूप हैं, उन्होंने जितने अंशों में आत्मा के भावों को अप्रशस्त बना रक्खा है, वह शुभ रूप नहीं होने से पुण्य की संज्ञा नहीं पा सकता।

प्रश्न : पुण्य पाप का विनाशक है ऐसी स्थिति में पुण्य, निश्चय में हेय कैसे ?

उत्तर : पुण्य अपेक्षा से अमुक अवस्था तक पाप का नाशक है, और अमुक अवस्था में पहुंचने पर पुण्य हेय है। दोनों अपने-आपकी अवस्था में निश्चात्मक है। कांटे को निकालने के लिए कांटा चुभाया जाता है। उस कांटे को निकालने रूप कांटे का नाश हुआ और कांटा पूरा निकल जाने पर चुभाये जाने वाले कांटे को भी छोड़ दिया जाता है, इस एकदेशीय उदाहरण से प्रष्टव्य तथ्य को जानना चाहिये।

प्रश्न : कर्मबन्ध का संबंध स्थितिबंध से हैं, स्थितिबंध कषाय से होता है। कषाय कभी शुभ रूप या पुण्य रूप होता ही नहीं, वह पाप रूप ही होता है? ऐसी स्थिति में पुण्य को बंध के अन्तर्गत कैसे समझना चाहिए ? पुण्य से कर्मबंध होता है, इसका कोई आम प्रमाण या उदाहरण है क्या ?

उत्तर : कर्मबन्ध चार प्रकार का माना गया है, उसमें 'स्थिति' व 'अनुभाग' प्रधान माने गये हैं, क्योंकि आत्मा को कर्मवेदन अनुभाव के तारतम्य से मंद व तीव्ररूप से अनुभव में आता है। प्रशस्त अनुराग आत्मोत्कर्ष में पुण्य की तरह अपेक्षा दृष्टि से सहायक होता है, उस अवस्था में पुण्य प्रकृतियों का बंध भी होता है।

"तत्त्वार्थ सूत्रकार" ने सम्यक्त्व मोहनीय, पुरुष वेद, हास्य मोहनीय व रति मोहनीय, कर्म प्रकृतियों को भी पुण्य के रूप में स्वीकार किया है। सम्यक्त्व मोहनीय के सद्भाव में तीर्थंकर नामकर्म जैसी पुण्य प्रकृति का बंध माना गया है

पुण्य प्रकृति के सद्भाव में कर्मबंध स्वीकार्य है, जिसे निम्न चतुर्भंगी से समझा जा सकता है- १. पुण्यानुबंधी पुण्य २. पापानुबंधी पुण्य ३. पुण्यानुबंधी पाप ४. पापानुबंधी पाप। इनमें प्रथम व दूसरे भंग का स्वामी पुण्य के सद्भाव वाला होता है। पुण्य से पुण्य का ही संचय होता है। इस मत का निरसन करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि पुण्य के सद्भाव से पुण्य व पाप दोनों का बंध कर सकता है।

जिस प्रकार के सद्भाव में पुनः ऐसी प्रकृतियों का बंध होता है, जिनका फल पुण्यरूप में हो, वह पुण्यानुबंधी पुण्य कहलाता है। जैसे मनुष्यायु का उपभोग करते हुए देवायु का बंध करना। अथवा सातावेदनीय कर्मोदय के समय पुनः सातावेदनीय कर्म का बंध करना। दूसरा पुण्य वह है, जिसके सद्भाव में पाप प्रकृतियों का बंध होता है। वह पापानुबंधी पुण्य कहलाता है। जैसे मनुष्य गति, मनुष्यायु आदि पुण्य प्रकृति के उदय रहने पर नरक गति, नरकायु आदि का बंध करना अथवा सातावेदनीय के उदय में असातावेदनीय कर्म का बंध करना।

उक्त चतुर्भंगी से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुण्य के सद्भाव में भी कर्मबन्ध होता है।

प्रश्न : पुण्य से कर्म का क्षय होता है, फिर भी पुण्य को हेय समझना, कहीं इससे तेरापंथ के सिद्धान्तों की पुष्टि तो नहीं होती ?

उत्तर : आपेक्षिक दृष्टि से कर्म क्षय में पुण्य निमित्त हैं। जब तक समग्र कर्म क्षय नहीं होते तब तक पुण्य साधन के रूप में उपादेय हैं। संपूर्ण कर्मों का क्षय होने के समय पुण्य भी हेय हैं। इससे तेरापंथ सिद्धान्तों की पुष्टि होने जैसा नहीं लगता।

प्रश्न : अयोग्य पात्र को यदि कोई शुभभाव से या विनम्रतावश अथवा सरलता से अगर नमस्कार करता है, तो क्या वह नमस्कार पुण्य नहीं होगा ?

उत्तर : अयोग्य पात्र को अगर शुभ भाव से या विनम्रतावश अथवा सरलता आदि के कारण कोई नमस्कार करता है तो वह शुभ भाव की दृष्टि से पुण्यबंध कर सकता है।

प्रश्न : तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का क्या होता है ?

उत्तर : तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का देव दाहसंस्कार कर देते हैं तथा जो राख, हड्डी आदि अवशेश रह जाते हैं उन्हें क्षीर समुद्र में ले जाकर बहा देते हैं।

प्रश्न : चौथे आरे की स्थिति आरम्भ में क्रोड पूर्व एवं अन्त में १०० वर्ष झाझेरी है तो भगवान महावीर का आयुष्य ७२ वर्ष कैसे ?

उत्तर : उतरते चौथे आरे की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति १०० वर्ष झाझेरी लघुदण्डक में बताई है।

अतः अन्तर्मुहूर्त से १०० वर्ष झाझेरीपर्यन्त, मध्य में जितनी भी स्थिति है, वह सब आ जाती है। अतः भगवान् महावीर की ७२ वर्ष की स्थिति भी उसके अन्तर्गत ही होने से कोई विरोध नहीं आता।

प्रश्न : उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन में ही भगवान ने गौतम स्वामी को क्यों संबोधन किया ? और गौतम स्वामी उस समय वहीं थे क्या ? और कोई

कहते हैं वहां से भगवान ने उनको अन्य जगह भेज दिया था, फिर इस अध्ययन में ही संबोधन क्यों किया ? गणधरों का उल्लेख क्यों नहीं ?

उत्तर : यह सामान्य नियम है कि तीर्थंकर देव अर्थरूप से ही धर्मदेशना फरमाते हैं। उसको गणधर सूत्र रूप से गूंथते हैं। इसी प्रकार भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र की अर्थरूप से देशना दी थी। गणधरों ने उसे सूत्ररूप से संकलन किया है। अतः उसमें गौतम स्वामी को संबोधन दिया गया है। उसमें किसी प्रकार की विसंगति नहीं कही जा सकती।

प्रश्न : सिद्ध भगवान में चरित्र होता है या नहीं ?

उत्तर : स्वरूप रमणरूप अनन्त चरित्र सिद्ध भगवान् में होता है। किन्तु शरीर से मुख्यतया सम्बन्धित सामायिक आदि संख्यारूप चरित्र नहीं होते।

चरित्र का सम्बन्ध मोहकर्म के क्षय से रहा हुआ है। जैसे मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है वैसे ही चारित्र मोहकर्म की प्रकृतियों का समूल नष्ट होने से चारित्र मोहकर्म से आवृत्त आत्मिक गुण क्षायिक चरित्र के रूप में प्रकट होता है। क्षायिक चरित्र का तात्पर्य है आत्मप्रदेशों का स्वच्छ एवं स्थिर हो जाना- स्व स्वरूप में रमण करना। ऐसा क्षायिक चरित्र सिद्धों में भी होता है। श्री यशोविजयजी ने भी अपने ज्ञानसागर में कहा है, यथा:-

चारित्रं स्थिरतारूप यतः सिद्धेष्बपीव्यते

(यशोविजय, ज्ञानसागर ३/८)

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी के सामायिक सूत्र में भी इस विषयक उल्लेख मिलता है यथा:-

आत्मभाव में स्थिर होने वाले चारित्र से ही मोक्ष मिलता है यह जैन तत्त्वज्ञान का प्रत्येक अभ्यासी जानता है। इतना ही नहीं, समता यानी आत्मस्थिरता रूप चारित्र तो सिद्धों में भी होता है। सिद्धों में स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चारित्र नहीं होता, परन्तु आत्मस्थिरता रूप निश्चय चारित्र तो वहां भी आगमसम्मत है। चारित्र आत्मविकास रूप एक गुण है अतः उसके अभाव में सिद्धत्व सिवा शून्य के और कुछ नहीं रहेगा।

-सामायिक सूत्र (पृष्ठ ६१)

प्रश्न : अरिहंत पद सिद्ध आदि की भांति अस्तिवाचक न होकर नास्तिवाचक क्यों लिया ? "नमो सर्वज्ञाणं" ऐसा पद रखा जाता तो क्या आपत्ति?

उत्तर : तीर्थंकरों के उपदेश की मुख्यतया दो शैली रही हुई हैं। निषेध रूप और विधेय रूप। जैसे असत्य नहीं बोलना, यहां निषेध की प्रधानता है और

सत्य बोलना यहां विधेय की प्रधानता है। इन दोनों तरह से सत्य की परिपूर्ण व्याख्या होती है।

इसी तरह नमस्कार मन्त्र में केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि की दृष्टि से अरिहंत और सिद्ध पद दोनों समान हैं। फिर भी चार घनघाती कर्मों को नष्ट करने वाले अरिहंत पद को नास्ति यानी निषेध की प्रधानता से लिया गया है और वही आत्मा सिद्धावस्था में अनन्त चतुष्टय से युक्त होने से सिद्ध पद को अस्ति यानी विधेय की प्रधानता से लिया गया है।

प्रश्न : आत्मा का चरम लक्ष्य सिद्धावस्था है। उसमें आत्मा किस प्रकार के सुख की अनुभूति करती है ?

उत्तर : कर्मसहित अवस्था में इन्द्रिय से सम्बन्धित मन जिन तत्त्वों को ग्रहण करके अनुभव करता है उससे सर्वथा भिन्न अनुभूति सिद्धों के होती है। क्योंकि पर-सापेक्ष अनुभव में वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं होती। पर-पदार्थ का अवलम्बन होने से परतन्त्रता की अनुभूति के साथ स्वयं की अनुभूति विकृत हो जाती है। अतः सच्ची आत्मिक अनुभूति नहीं हो पाती।

जब चार घनघाती कर्मों के क्षय होने पर दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ अवशेष कर्मों को क्षय कर आत्मा सर्व सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर आत्मिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तब उस अवस्था में परावलम्बिता से हटकर आत्मा सदा-सर्वदा स्वतन्त्रता रूप सुख की अनुभूति करती है जो कि सभी सांसारिक सुखों से परे है।

ऐसे सुख की अनुभूति किसी भी सांसारिक पदार्थ से नहीं की जा सकती और न पांच इन्द्रियों से ग्राह्य ही हो सकती है। ऐसे सुख को जानने के लिए तर्क व मति भी काम नहीं कर पाती। जैसा कि आचारांग सूत्र में कहा है-

"तक्का तत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गाहिया।"

इतना ही नहीं, अपितु मोक्ष सुख सम्पूर्ण श्रुत अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान का भी अविषय है। क्योंकि उस प्रकार की अनुभूति का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव उसको अनिर्वचनीय सुखानुभूति कह सकते हैं।

मोक्षसुख की बात तो दूर रही, कई रूपी पदार्थों से होने वाली आनन्दानुभूति को भी शब्दादि के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

जैसे जंगली व्यक्ति ने कभी अपनी जिन्दगी में कोलकाता आदि शहरों को नहीं देखा- वह अचानक कभी न्यूयार्क सरीखे समृद्धिशाली शहर में चला जाय, और वहां पहुंच कर कभी आस्वादन न किये गये पदार्थों को खाता है और पांच इन्द्रियों से होने वाले उच्चतम आनन्द का अनुभव लेता है, ततश्च जब वह पुनः गहरे जंगल में पहुंचता है तब उसके अन्य साथी, जिन्होंने कभी भी इस

प्रकार का अनुभव नहीं किया और न करने वाले हैं वे जब यह पूछ बैठते हैं कि तुम कहां गये और वहां किस सुख की अनुभूति हुई, कैसा सुख है आदि। तब वह जंगली पुरुष यही कहता है कि मैंने बहुत सुख पाया आदि-आदि। किन्तु उसका यथार्थ वर्णन करके समझा नहीं पाता।

वह तो क्या! दुनिया का सबसे बड़ा विद्वान्, जो कि बृहस्पति के तुल्य भी क्यों न हो, वह भी अपनी विद्वत्ता की अनुभूति एवं पर-पदार्थजन्य अनुभूतियों को अन्य को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता तब पांच इन्द्रियों एवं मन आदि के माध्यम से सिद्धावस्था के सुख का उल्लेख कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता। वह सिद्धावस्था का सुख तो मात्र अनुभवगम्य है। जिस प्रकार घी का आस्वादन किया जा सकता है पर बतलाया नहीं जा सकता। हाँ, कुछ अनुभूति के आधार से यत्किंचित्रूपेण तुलनात्मक विशेषताओं से आभास कराया जा सकता है।

एक तरुण पुरुष पर्याप्त शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक आदि श्रम से थका हुआ है, वह श्रम के अनुरूप पर्याप्त भोजन कर गादी-तकियों के सहारे प्रगाढ़ निद्रा के वशीभूत हो जाय जिसमें स्वप्नादि भी न आयें। ऐसी प्रगाढ़ निद्रा को लेकर जब वह श्रमिक उठता है तब उसे कोई पूछ ले कि आज कैसा आनन्द रहा, तो वह कहता है कि बहुत आनन्द रहा। फिर वह पूछता है कि आनन्द कैसा था तो जवाब देता है उसको तो मैं शब्दों द्वारा कह नहीं सकता।

उस प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में उस तरुण ने न कुछ भी श्रवण किया, न कोई रूप देखा, न कोई गंध सूँघी। न किसी प्रकार का रसास्वादन किया। न स्पर्शजन्य अनुभूति की, न मानसिक कल्पना आई और न स्वप्नादि की सृष्टि ही देखी। फिर भी वह पांच इन्द्रिय और मन संबंधी व्यापार न होने पर भी उस सुख की अनुभूति कर रहा था और जगने पर उस अनुभूति का उल्लेख जिह्वा द्वारा नहीं कर पाता है।

इस प्रकार का उपर्युक्त अनुभव प्रगाढ़ निद्रा का अनुभव है किन्तु साधक जाग्रतावस्था में विवेक विज्ञान के साथ वैसा अनुभव करने लग जाय तो उस प्रकार के अनुभव से सिद्ध अवस्था के सुख के आंशिक आभास से वह यह अनुमान कर सकता है कि निरंजन, निराकार, निरामय सिद्धावस्था में अनन्त सुख की अवस्था किस रूप से आत्मा में समाहित है।

अन्ततः सिद्धावस्था के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता और न बतलाया ही जा सकता है। केवल उसका अनुभव ही किया जा सकता है। जिसका आंशिक रूप से अनुभव ध्यान योग की साधना करने वाले उत्कृष्ट साधक कर सकते हैं।

प्रश्न : साधु-मार्ग का उद्भव कब से ?

उत्तर : धर्म एवं संस्कृति के आविर्भाव के काल-निर्धारण के